व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का १६ वाँ पुष्प.

श्री मज्जवाहिराचार्य के--

श्रीभगवती सूत्र पर व्याख्यान
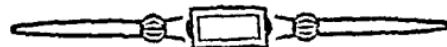
सम्पादक-

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम के तरफ से

पं० शोभाचन्दजी भारिल्ल न्यायतीर्थ ब्यावर.

द्रव्य सहायक-

श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी साहब गेलड़ा

कुचेरा वाला, मद्रास.
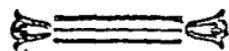
प्रकाशक-

मंत्री श्रीसाधुमार्गी जैन--

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम.

वीराब्द २४७१	अर्द्ध-मूल्य	प्रथमावृति
विक्रमाब्द २००२	१)	१०००
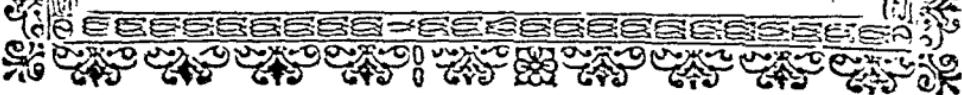
क्षमा याचना।

श्रीमद्भगवती सूत्र की व्याख्या का यह साहित्य जैसा उच्च श्रेणि का है इसका प्रकाशन भी वैसे ही दक्ष एवं अनुभवी कार्य-कर्ताओं के द्वारा होना चाहिए था। किन्तु वर्तमान विश्व युद्ध के समय पेपर एवं प्रेस कंट्रोल के कारण अच्छे अनुभवी एवं दक्ष प्रेस वालों ने छापने से इन्कार कर देने के कारण साधारण अनुभव वाले प्रेस से ही काम लेना पड़ा है जिससें टाइप जिस जगह जैसे आने चाहिये वैसे नहीं आये हैं तथा सम्बन्ध पूर्ण होने पर पेज बदलने तथा पृष्ट के उपरी भाग में प्रथक् २ शिर्षक देने में जो सावधानी रखनी चाहिये नहीं बनी है।

यह भी मुझे स्पष्ट कर देना चाहिये कि में भाषा का विज्ञ नहीं हुं इसलिये प्रुफ संशोधन करने का कार्य दुसरों के जिम्मे किया था। उन्होंने प्रुफ संशोधन किया। परन्तु पुस्तक में उपरोक्त सुन्दरता के प्रति ध्यान नहीं दिया, इससें साधारण मात्रा आदि की भूल के सिवाय विशेष अशुद्धियें नही रही किन्तु पुस्तक के पृष्ट पर हेडिंग देने में गरबड़ी हो गई हैं।

इस प्रकार मेरी भूल के लिये मुझे पश्चाताप हो रहा है परन्तु छप चूकने के बाद कोई उपाय ही नहीं अतः अब छपने वाले भागों में बन सकेगा उतनी सावधानी रखने का प्रयत्न करूंगा। वाचकगण इस बार मुझे क्षमा करेंगे।

प्रकाशक

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४	ावबाह	विवाह
४	८	स	से
७	२	करणाबपते	करणावपेत
९	२४	करत	करते
२३	३	जाडते	जोड़ते
२५	८	चाह	चाहैं
३१	१६	सव्वाजीवाणं	सव्वजीवाणं
३३	१	जिसस	जिससे
३७	१		बन्धन से
३७	८	नरक	नरके
३९	१	हा	हो
३९	१	आर	और
३९	४	जसे	जैसे
३९	६	दोना	दोनों
४३	६	युाक्त	युक्ति
४३	२१	ध्यातं	ध्मातं
४६	१२	म	में
४६	१२	माजूद	मौजूद
४७	२०	गण	गुण
४७	२५	स	से
५३	१९	इसासिए	इसलिए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	४	आचीय	आचार्य
५६	११	अघी	अधि
५७	२२	भगवानू	भगवान्
६०	२३	घातकीखंड	घातकी खंड
६०	२५	साधुमार्गी की साघमार्ग	साधुमार्ग की साधना
६१	४	ओरं	आरे
६४	२१	साघू	साधु
६८	२६	हे	है
७२	१२	बद्ध	बद्ध
७२	१४	विपी	लिपी
७९	१२	मगल	मंगल
८३	२१	नदा	नदी
८९	२०	ऊदेशक	उद्देशक
११९		भगवदू	भगवद्
११९	२४	प्राकृति	प्रकृति
११९	२५	सांसर	संसार
११७		भवगद्	भगवद्
१२०	१६	हाथा	हाथी
१२१	८	महवीर	महावीर
१२४	९	षणां	षण्णां
१२४	९	इत्तीङ्गना	इतीङ्गना
१२५	५	त्रिभूषितमान्	विभूतिमान
२२७	-	भवगद्	भगवद्
१३४	टिप्पणी १०	और	सौ
१३९	४	सम्वग्ज्ञान	सम्यग्ज्ञान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१४	पुरुषात्तम	पुरुषोत्तम
१६१	२२	ह	है
१६८	४	अनथ	अनर्थ
१७२	२८	करग	करेंगे
१७३	Folis	वणन	वर्णन
१७८	१७	उद्द्धार	उद्धार
१८३	८	आर	और
१९७	१२	घृष्ता	घृष्टता
१९८	२	मुक्तता	मुक्तात्मा
१९९	१३	अस्तीत्व	अस्तित्व
२००	११	स्वभाविक	स्वाभाविक
२००	२३	हा	हो
२०३	८	भगवन	भगवान्
२०६	२	करत	करता
२०६	१८	सभव	संभव
२०८	२२	लिए	लिए
११७	११	कहाँ	कहीं
२१८	२३	दखा	देखा
२२१	३	वही	नहीं
२२१	१९	परिणाम	परिमाण
२२२	१९	कस	कसे
२२८	८	ऊर्ध्वजातुः	ऊर्ध्वजानुः
२२९	२१	ह	है

आप ध्यान देंगे ?

क्या आप जानते हैं कि आपको यह अनुपम साहित्य देखने को कैसे मिला ? इस साहित्य के सर्जक श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर्य श्री जवाहिरलालजी म० सा० भौतिक देह से आज विद्यमान नहीं है पर उनका प्रवचन रूप सूत्र की तल-स्पर्शी विशद व्याख्या आपके समक्ष आज विद्यमान है और भविष्य में भी रहेगा। इसके उत्तर में यही कहना होगा कि यह सब जिसके द्वारा हमें प्राप्त होसका वह श्री सा० जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल आफिस है।

मण्डल की आफिस आज बीस वर्ष से रतलाम (मालवा) में है जिसके संचालक श्री साधुमार्गी जैन समाज के अग्रगण्य नेता श्रीमान् स्वर्गीय सेठ वरदभाणजी साहब एवं अवैतनिक अनुभवी मंत्री श्री बालचन्दजी श्रीश्रीमाल हैं। इनके अथक परिश्रम से ही मण्डल आफिस समाज सेवा के ऐसे २ उत्तम साधन का संग्रह कर सका है। पूर्व समय में श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर्य श्री १००८ श्री उदयसागरजी महाराज व पूज्यवर्य श्री १००८ श्री श्रीलालजी महाराज साहिब बड़े ही प्रतापी एवं अतिशयधारी तथा तत्सामयिक प्रसिद्ध वक्ता थे। उनके प्रवचन भी प्रतिभाशाली एवं प्रभावोत्पादक थे किन्तु समाज में कोई संगठन बल न होने से उनके प्रवचनों का संग्रह नहीं हो सका। इसी तरह अन्य भी सामुहिक रूप से करने के कार्य नहीं कर सकते थे परन्तु मण्डल का संगठन होने और उसका आफिस सेवा भावी कार्यकर्त्ताओं के हाथ में आने से मण्डल ने पूज्य श्रीजवाहिर-

लालजी म० सा० के प्रवचनों का संग्रह किया तथा अन्य भी समाज सेवा के कई कार्य किये हैं। इसी से पृथक् पृथक् विषय पर मननीय एवं बोधप्रद साहित्य का लाभ हमें प्राप्त हो सका है।

मण्डल ने शिक्षा के विषय में भी अच्छी सेवा बजाई व बजा रहा है। कुछ वर्षों पहले एक विद्यालय एवं एक छात्रालय भी खोला था किन्तु आर्थिक संकोच तथा अनेक कठिनाइयों के कारण हाल में यह चालू नहीं है किन्तु श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड जो मण्डल ने संवत् १९८६ में स्थापित किया वह अभी चालू है। इस परीक्षा-बोर्ड के द्वारा सैकड़ों ही नहीं किन्तु हजारों छात्रों ने सामाजिक संस्थाओं में अभ्यास करके परीक्षा देकर अपनी योग्यता के प्रमाण-पत्र एवं पारितोषक प्राप्त किये हैं व कर रहे हैं। इस प्रकार मण्डल द्वारा हमारी साधुमार्गी जैन समाज ही नहीं, पूर्ण जैन समाज व जैनेतर समाज ने महान् लाभ हाँसिल किया है ऐसी संस्था को आर्थिक सहायता देकर सुदृढ़ बनाना व कार्य कर्त्ताओं के उत्साह को बढ़ाना हमारा नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है।

मण्डल को सुदृढ़ कैसे बनाया जा सकता है?

(१) श्री साधुमार्गी जैन समाज में पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के अनुयायी तथा इस सम्प्रदाय के वर्तमान जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलालजी म० सा० व इनकी सम्प्रदाय के प्रति भक्ति पूर्वक प्रेम सहानुभूति रखने वाला अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी भी मण्डल का सभ्य बन सकता है। मण्डल के सभ्य बनने की

तीन श्रेणियाँ रखी हुई हैं। प्रथम श्रेणी—वंशपरम्परा के सभ्य, द्वितीय श्रेणी-आजीवन सभ्य और तृतीय श्रेणी-वार्षिक सभ्य बनकर-जिसका विवरण मण्डल के नियम ४ में देखिये।

(२) मण्डल की चालू प्रवृत्तियों में सहकार देकर आर्थिक सहायता दी जाय तथा अंग सेवा दी जा कर उनको वेग दिया जाय।

(३) मण्डल से सम्पादित साहित्य का प्रचार किया जाय। उसके प्रकाशन में आर्थिक सहायता देकर जो साहित्य स्टॉक में नहीं है उस का पुनः संस्करण निकला कर प्रचार किया जाय।

(४) मण्डल के नियमोपनियम से परिचित होकर उसके सभ्य बनाना व इसकी प्रवृत्तियों को सहकार दिलाना।

यह बात तो निश्चित है कि कामधेनु अमृतमय दूध आदि देकर हमारा पोषण करती है, हमें सुख देती है परन्तु वह भी खुराक मांगती है। यदि हम उसे उचित खुराक नहीं दें तो वह भी हमारा पोषण कहाँ तक करती रहेगी। इसी तरह मण्डल को भी हमारे आर्थिक एवं अंग सेवा रुपी सहकार की आवश्यकता है। यदि हम पूर्ति करते रहेंगे तो उसके मिष्ट फल हमें प्राप्त होंगे। मैंने अपनी पत्नि एवं पुत्रों को भी मण्डल के सभ्य बनाये हैं तथा अन्य प्रकार से भी शक्य सहकार देता हूँ। इसी प्रकार आप सब वाचकों से मण्डल के सभ्य बनने तथा बनाने के लिए मैं आप से अपील करता हूँ। इत्यलम्।

भवदीय

ताराचन्द गेलड़ा, मद्रास

श्रीसाधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम (मालवा) के

नियमोपनियमः—

जो भीनासर के मण्डल के बीसवें अधिवेशन ता. ३०-१२-१९४५ के प्रस्ताव नं० ७ के अनुसार तैयार किये जाकर देशनोक की ता. १५।१०।४३ की बैठक में पास हुए।

[१] **नाम**—इस मंडल का नाम "श्री साधुमार्गी जैन पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मंडल" रहेगा। जो कि मंडल की स्थापना के समय अर्थात् सं० १९७८ में कायम किया गया था, किन्तु इसका संक्षिप्त नाम "श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल" भी रहेगा।

[२] **क्षेत्र**—इस मंडल में पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज साहब की सम्प्रदाय के परम्परागत गच्छाधिपति पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज साहब की सम्प्रदाय के श्रावक श्राविका व इस सम्प्रदाय के प्रति प्रेम भाव रखने वाले न्यायप्रिय श्रावक श्राविकाओं का जो भारत के विभिन्न प्रान्तों में निवास करते हैं, समावेश होगा।

[३] मंडल के उद्देश्य—

(क) श्री साधुमार्गी जैन बावीस सम्प्रदाय के समस्त स्वधर्मी बंधुओं के साथ अपने न्याय पूर्वक ध्येय को कायम रखते हुए प्रेमभाव की वृद्धि करना तथा उनका संगठन करना।

(ख) दयामयी सत्य-धर्म का पालन करना व कराना।

(ग) समाज के बालक बालिकाओं में धार्मिक व्यवहारिक ज्ञान का प्रचार करना तथा कराना।

(घ) श्री मज्जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज साहब के प्रवचनों का संग्रह कराया गया है, उसके आधार से समयोचित साहित्य का प्रचार करना तथा भविष्य में वर्तमान पूज्यश्री के प्रवचनों का संग्रह कराना चाहें तो करा सकते हैं।

(च) शिक्षा प्रणाली का सुधार करने व उसका एकीकरण करने के लिये एक परीक्षा बोर्ड कायम है उसके जरिये परीक्षा लेना तथा उत्तीर्ण छात्रों को पारितोषक एवं प्रमाण पत्रादि देना, छात्रवृति भी दे सकते हैं।

(छ) साधु महात्माओं के आचार विचार की विशुद्धि कायम रहे और उनमें ज्ञान क्रिया की वृद्धि हो ऐसा सक्रिय प्रयत्न करना।

(ज) सम्प्रदाय में नये विद्वान कुलीन एवं आचार-वान महात्माओं की वृद्धि हो ऐसा यथा शक्य प्रयत्न करना।

(ट) मुनिराजों के विहार उपकारादि समाचार तथा मण्डल की प्रवृत्ति "निवेदन पत्र" में प्रकाशित करके मण्डल के प्रथम द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के सभी सभासदों को निःशुल्क देना, योग्य समय आने से भविष्य में इसे रजिस्टर्ड कराया जावे तो जनसाधारण को ग्राहक रूप में भी दिया जाय।

(ठ) इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले श्रावकों के तरफ से चलती हुई शिक्षण संस्थाओं का संगठन करके उनके द्वारा समाज की आवश्यकता पूर्ति का यथोचित प्रवन्ध करना।

(ड) चातुर्मास में धर्म के नाम से होती हुई फिजूल खर्ची एवं आडम्बर की रोक करने के लिए यथा शक्य प्रयत्न करना।

[४] सभासद—इस मंडल के सभासदों की निम्न-लिखित श्रेणियां होगी।

(क) जो महानुभाव रूपे पांचसो या इससे अधिक रकम एक साथ देंगे या जिन्होंने अबतक दी है वे इस मंडल के "वंश परम्परागत के" प्रथम श्रेणी के सभासद माने जावेंगे।

(ख) जो महानुभाव रूपे पांचसो से कम और रूपे एकसो से अधिक एक साथ दिये हैं या देंगे वे "आजीवन" द्वितीय श्रेणी के सभासद माने जावेंगे।

(ग) जो महानुभाव सभासद फी तरीके वार्षिक रूपे २) या इस हिसाब से जितने भी साल के (वर्ष के) देंगे तृतीय श्रेणी के सभासद माने जावेंगे।

(घ) ऑफिस स्टॉफ में ऑनररी अथवा ऑनरियम लेकर काम करते हों वैसे सेक्रेटरी इसके सभासद माने जावेंगे, किन्तु फुल पेड सेक्रेटरी हो उनको फीस जमा कराकर सभासद होना ही पड़ेगा।

(च) जो सद्गृहस्थ मंडल की चालू प्रवृति में या किसी नवीन प्रवृति कराने के उद्देश्य से जो भी रकम देंगे वह जिस श्रेणी की होगी उन्हें उसी श्रेणी के सभासद माने जावेंगे।

[५] मंडल की स्थायी सम्पत्ति—

(क) मंडल में जो रकम अबतक प्रथम, द्वितीय श्रेणी के सभासदों से फंड की प्राप्त हुई है या अन्य सींगाओं से बचत की रकम जो मूल पूंजी खाते में पड़ चुकी है वह तथा अब इसी तरह जो रकम प्राप्त होगी वह सब मंडल की स्थायी संपत्ति मानी जावेगी।

(ख) जबतक मंडल के पास रूपे पचास हजार की रकम स्थायी कोष में जमा न हो जावे वहांतक तो स्थायी पूंजी को बढ़ाने का ही खयाल रखा जावेगा।

(ग) मंडल का आफिस खर्च आदि साधारण खर्च जो बजटमें मंजूर किया जाता है वो मंडलकी स्थायी संपत्ति के वियाज आदि आय में से ही खर्च किया जावे, कदाचित् स्थायी कोष में से यदि खर्च करने की आवश्यकता लगे तो अधिवेशन (जनरल कमेटी) अपने अधिकार से १०) फी सैंकड़ा तक वक्त जरूरत खर्च करने मंजूरी देसकेगी। इसके सिवाय यदि अधिक खर्च करने की जरूरत पड़े तो हाजिर व गैरहाजिर प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के सभासदों से राय मंगवाकर कसरत राय अनुसार व्यवस्था की जावे।

(घ) किसी समय किसी खर्चे के लिये यदि चन्दा किया जावेगा तो वह रकम स्थायी फण्ड में शुमार नहीं की जावेगी किन्तु जिस कार्य के लिये की जावेगा उसी खाते में जमा रहेगा।

(च) मंडल के आधीन संस्थाओंकी जो रकम होगी वह भी मंडल के स्थायी फंडमें नहीं समझी जावेगी, किन्तु उन संस्थाओंके मेम्बरान के आदेशानुसार ही खर्च की जावेगी।

[६] मंडल के धन की व्यवस्था—

(क) मंडल के धनकी रक्षा एवं उससे सूद

आदि की आय उत्पन करने के लिये ५ पांच मेम्बरान का एक ट्रस्ट बोर्ड ट्रस्ट एक्ट अनुसार कायम किया जाय, जिसके मेम्बरान का चूनाव अधिवेशन के समय हो जावेगा, इस बोर्ड का मेम्बर वही हो सकेगा जो मंडलका प्रथम या द्वितीय श्रेणि का सभासद होगा, आफिस प्रेसिडेण्ट का कर्तव्य होगा कि वे मेम्बरान ट्रस्ट बोर्ड की राय से कार्य करें, यदि कोई ट्रस्ट बोर्ड के मेम्बरान की जगह खाली हो जावे तो मौजूदा ट्रस्टयों की कसरत राय से कार्य किये जावे और अधिवेशन के समय उसकी पूर्ति कर ली जावे। मौजूदा ट्रस्टीयों में भी कोई ट्रस्टी पत्र का जबाव ही नहींदे तो जो राय आवे उन में बहुमति से कार्य किया जावें।

(ख) मंडल आफिस ट्रस्ट बोर्डकी सलाह अनुसार ही मंडलकी रकम का सूद आदि उत्पन्न करे और जहां कहीं बेंकों में, मिलों में या साहुकारी हुंडीयों में रकम दी जावे वह मंडल आफिस के प्रेसिडेन्ट के नाम से जमा कराई जावे।

(ग) मंडलकी रकम वियाज पर देने के बजाय ट्रस्टी लोग उचित समझे तो कोई जायदाद खरीद कर या मार्गेज करके भी रकम उसमें देसकेंगे अथवा दुसरी कोई वस्तु भी खरीद मार्गेज कर सकेंगे परन्तु ऐसा तभी कर सकेंगे जब सभी ट्रस्टीयों की एक रायहो। एक राय न होने की अवस्था में मंडलकी मिटींग के निर्णयको अन्तिम माना जावेगा।

(घ) मंडल आफिसके प्रेसिडेन्ट जहां कहीं मंडलकी रकम जमाहो वहां से मुद्दत पूरी होने पर अपने दस्तखत से रकम उठावें और पिछी उसी जगह या दूसरी जगह दें तो थोड़ी मुद्दत के लिये खुदकी राय अनुसार दें, परन्तु यदी स्थायी बारह माही देना होतो उसमें ट्रस्टीयों की राय अवश्य लें।

[७] मंडल का आफिस स्टॉफ तथा कार्य संचालन—

(क) मंडलका ऑफिस रतलाम में मौजूद है वह आयन्दा स्थान जहां कहीं के लिये अधिवेशन निश्चित करे वहां पर किसी प्रथम श्रेणीके मेम्बर की आधीनता में रखा जाये, और वेही ऑफिस के प्रेसिडेन्ट समझे जावे, ये अपने अधिकार से या मंडल अधिवेशनकी सूचनानुसार सेक्रेटरी कायम करे जो आनररी हो या पगारदार हो परन्तु सम्प्रदायसे प्रेम रखने वाले हो (और इसी संप्रदायका अनुयायी हो) उनके द्वारा मंडल आफिस का कार्य संचालन किया जावे किन्तु जबावदारी सब आफिस प्रेसिडेन्टकी रहेगी। ऑफिस में आवश्यकतानुसार क्लर्क चपरासीभी रखेजावे नियुक्त व प्रथक करने का कार्य ऑफिस प्रेसिडेन्ट सा० की सलाहनुसार सेक्रेटरी करते रहें।

(ख) मंडल ऑफिस का दफ्तर, स्टाक सामान, वहियें, शिलिक पुस्तकें आदि मंडल के कर्मचारी के पास रहें किन्तु वे सेक्रेटरीकी आधीनता में रहे। उसकी फेहरिस्त वा

कायदा रहे व उनपर दस्तखत सेक्रेटरी के हों । और वही उत्तरदायी होंगे ।

(ग) मंडल ऑफिस के कर्मचारियों को यदि कुछ रकम पेशगी देना पड़े तो रूपे पचास तक सेक्रेटरी दे सकेंगे इससे अधिक रूपे एक सौ तक ऑफिस प्रेसिडेन्ट साहब की मंजूरी से दिये जावें और इससे भी अधिक देना हो तो अधिवेशन (जनरल सभा) की मंजूरी अनुसार पाबन्दी की जाय ।

(घ) मण्डल आफिस के कार्य संचालन का प्रत्येक अधिकार सेक्रेटरी को रहेगा, परन्तु मुख्य २ बातों में वे आफिस प्रेसीडेन्ट की सलाह ले लिया करें ।

(च) मण्डल की बैठक में जो बजट स्वीकृत हो उसके अनुसार खर्च करने या देने का अधिकार आफिस प्रेसीडेन्ट तथा सेक्रेटरी को रहेगा, किन्तु प्रसंग वशात बजट के अलावा भी विशेष परिस्थिति उत्पन्न होने पर रुपे एक सौ तक सेक्रेटरी को अथवा रुपे दो सौ तक का अधिकार प्रेसीडेन्ट सा० को रहेगा, अधिक खर्च करना हो तो ट्रस्टियों से स्वीकृती लेवें ! ट्रस्टियों को भी रुपे पांच सौ तक खर्च करने की मंजूरी देने का अधिकार होगा। (पांच सौ की मंजूरी जनरल कमिटी स्वीकृती दें) आवश्कता पड़ने पर पांच सौ से ज्यादा भी ट्रस्टी खर्च करा सकते हैं लेकिन जनरल कमिटी की मंजूरी उन्हें मिलनी चाहिए। यदि ज्यादा खर्च करने की मंजूरी अधिवेशन न दे तो वह जवाबदारी ट्रस्टियों की रहेगी ।

(छ) मंडल के खजांची जहां आफिस रहे वहां के प्रथम या द्वितीय श्रेणी के सभ्य हो सकेंगे। आफिस स्टाफ के पास शिलिक नगदी रुपे दोसो तक रहे, ज्यादा हो तो खजांची के यहां जमा करादे और जरूरत हो तो ले लेवें।

[८] मंडल अधिवेशन, जनरल कमिटी की बैठक-

(क) हो सके वहां तक अधिवेशन जहां पर पूज्य महाराज साहब (अथवा युवाचार्य महाराज साहब) का चातुर्मास हो वहां आसोज माह में नियमानुसार किया करें, या जहां आफिस हो वहां भी कर सकते हैं परन्तु यदि कारणवशात् आसोज महिने में नहीं हो सके तो जब कभी सुविधा हो, अनुकूल समय व क्षेत्र देख कर करलें। अधिवेशन दो वर्ष में अवश्य होना ही चाहिए।

(ख) अधिवेशन का आमन्त्रण साधारणतया १५ पन्द्रह रोज पहले सदस्यों को भेज दिया जाय।

(ग) अधिवेशन में किसी सदस्य को कोई प्रस्ताव पेश करना हो तो वे अधिवेशन से तीन दिन पहले सेक्रेटरी के पास भेज दें। कदाचित् कोई मेम्बर प्रसंग पाकर तत्काल ही प्रस्ताव पेश करना चाहें तो वह अधिवेशन के सभापति को दिखा कर उनकी सम्मति मिलने पर ही पेश कर सकेंगे।

(घ) किसी समय खास विशेष कारण उन्पन्न होने पर विशेष अधिवेशन करना आवश्यक हो तो मण्डल आफिस तरफ से

खास खास सदस्यों की सलाह लेकर कर लिया जाय, कदाचित् अधिवेशन करने का मौका न हो तो सभापति और आफिस प्रेसीडेंट मुख्य २ सभासदों की सलाहानुसार बहुमत से वह कार्य कर लें।

[९] मंडल के सभापति व उनके अधिकार—

(क) मण्डल का अधिवेशन जहां कहीं हो वहां मण्डल के उपस्थित हुए सभासदों में से (जो प्रथम या द्वितीय श्रेणी के हों) योग्य समझे जावें उन्हें ही सभापति चुन लिये जावें। यदि आफिस ने उचित समझ कर पहले किसी प्रथम या द्वितीय श्रेणी के सभासद को आमंत्रित कर लिए हों तो उन्हें ही चुनें जावें।

(ख) जो मण्डल अधिवेशन के सभापति होंगे वे जब तक मण्डल का दूसरा अधिवेशन न हो जाय वहां तक मण्डल के सभापति माने जावेंगे, और उन्हें मंडल के सलाहकार मान कर मण्डल के धन की व्यवस्था में उनकी सलाह खास तौर से ली जावेगी, तथा दूसरे ट्रस्टियों की राय में भिन्नता हो उस समय उन भिन्न रायों में से किसी एक निर्णय पर आकर कार्य करने का अधिकार सभापति एवं आफिस प्रेसीडेन्ट को रहेगा। तथा प्रत्येक विवादास्पद कार्यों में निर्णय दे कर मार्ग दर्शन कराने का अधिकार भी सभापति को रहेगा, विवादास्पद बावतों में सभापति की दो राय मानी जावेगी!

[१०] मताधिकार–

(क) मण्डल के प्रत्येक कार्य में प्रत्येक श्रेणी के सभासदों को अपना मत देने का समानाधिकार रहेगा, किन्तु द्रव्य सम्बन्धी व्यवस्था में कदाचित् मतभेद उत्पन्न हो तो उसके निर्णय में प्रथम और द्वितीय श्रेणी के सभ्यों की व सेक्रेटरी की बहुमति ही देखी जायगी।

(ख) मण्डल के प्रथम श्रेणी के सभ्यों को अपनी अनुपस्थिति के समय पत्र से भी अपना मत किसी उपस्थित सभ्य के जरिये देने का अधिकार रहेगा। अथवा अपने पुत्र पौत्र या भाई को भेज सकेंगे किन्तु वोट एक ही माना जावेगा।

(ग) द्वितीय श्रेणी के सभ्यों को अपने भाई या पुत्र पौत्र को भी भेजने का अधिकार रहेगा किन्तु उनके साथ में अधिकार पत्र अवश्य देना होगा अन्यथा वे मत न दे सकेंगे।

(घ) तृतीय श्रेणि के सभ्य स्वयम् उपस्थित होकर ही अपना मत दे सकेंगे।

(च) जो मंडल के किसी भी श्रेणि के सभ्य न होते हुए भी मंडल के कार्य में अवैतनिक सेवा देते होंगे या आमंत्रित किये होंगे वे भी मंडल में अपनी सलाह दे सकेंगे।

(छ) मंडल के प्रत्येक कार्य में सर्वानुमाति से ही ठहराव करने का ध्येय रखा जावेगा, किन्तु किसी मुख्य विषय में भिन्न राय होने पर बहुमति से भी ठहराव किये जावेंगे, और जो ठहराव होंगे उनका पालन करना सब के लिये अनिवार्य होगा।

(ज) कोई ठहराव सर्वानुमाति से या अधिक मत से पास हुआ होगा तो भी उसको प्रेसिडेन्ट व्हिटो पावर में रोक सकेगा, लेकिन व्हिटो-पावर (खास अधिकार) प्रेसिडेन्ट खास निचे लिखे कारणों में ही चला सकेंगे।

[१] ऐसा वक्त आवे के उस ठहराव से मंडल टूटने का संभव हो।

[२] मंडल के ध्येय के विरूद्ध हो।

[३] मंडल की सब संस्थाएं टूटने का संभव हो।

[४] मंडल को द्रव्य संबंधी वहुत हानिं होती हो।

इन कारणों के उपस्थित होने पर ही प्रेसिडेन्ट व्हिटोपावर चला सकेंगे।

[११] कॉरम—

मंडल के अधिवेशन का कॉरम २१ सभ्यों का रखा जाता है, जिसमें दस भभ्य प्रथम और द्वितीय श्रेणी के होने ही चाहिये। कदाचित् किसी अधिवेशन में कॉरम पूरा न हो तो उस

रोज २४ घंटे के लिये बैठक का कार्य स्थगित रखा जाय और यदि दूसरे रोज भी कॉरम पूरा न हो तो जितनी उपस्थिति हो उतने सभ्यों से कार्य किया जाय, किन्तु जो कोई कार्य खास संप्रदाय सम्बन्धी अथवा महत्वपूर्ण प्रतीत हो उसमें कॉरम का अवश्य ख्याल रखना चाहिये ।

[१२] कार्य क्षेत्र—

यह मंडल पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के परम्पराय गच्छाधिपती पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज की सम्प्रदाय संबंधी साधु और श्रावकों को लगते हुए तमाम विषयों पर विचार एवं प्रस्ताव कर सकेगा और किये हुए ठहरावों का अमल दरामद कराने के लिये मुनिराज एवं महासतियांजी महाराज को भी यथोचित अर्ज कर सकेगा, साथ ही इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक कार्यों में भी यथा शक्य भाग लेकर प्रवृति करता रहेगा जो सम्प्रदाय के समस्त श्रावकों को बंधनकर्ता होगा ।

[१३] मंडल के ब्रांच—

यदि आवश्यकता हो तो मंडल के ब्रांन्चेज् अन्य प्रान्तों में भी खोले जा सकेंगे, तथा मंडल के नियमोपानियम के विरूद्ध प्रवृत्ति करने पर किसी भी ब्रांच को बंद करने का अधिकार मंडल की हेड आफिस को रहेगा ।

[१४] मंडल के आधीन संस्थाएं—

मंडल का उद्देश्य पूर्ण करने के लिये मंडल की बैठक में स्वीकृत होकर जो २ संस्थाएं मंडल ने कायम की है या अब करेगा या जो संस्था मंडल की आधीनता में रहना चाहे उनकी मंजूरी होजाने बाद वे सब मंडल के आधीन मानी जावेगी। उनका संचालन मंडल द्वारा नियुक्त संस्थाओं के प्रेसिडेन्ट सेक्रेटरी तथा उन्होंने जो कमिटी बनाई है वह करती रहे परन्तु दर वर्ष या जब कभी मंडल को जरूरत हो और वह रिपोर्ट मांगे उस समय अपनी प्रवृति की रिपोर्ट मण्डल को देना होगा और मण्डल आफिस के प्रेसिडेन्ट व सेक्रेटरी उन संस्थाओं की प्रबंधकारिणी कमिटी में बहेसियत सभासद अपना मत दे सकेंगे या मंडल के अधिवेशन में उनके प्रबन्ध के लिए जो ठहराव हो उस अनुसार पाबन्दी मण्डल आफिस करा सकेगी।

[१५] आय व्यय का हिसाब—

मण्डल का हिसाब आफिस की बहियों में साहुकारी रीति से रहे। जो रकम जमा हो उसकी रसीद दी जावे और जो रकम नामे मँडे उसकी रसीद या दस्तावेज ली जाकर व्हाउचर के रूप में रखी जावे। मण्डल का हिसाब, अधिवेशन में जिनको आडिटर कायम किया जावे, उनको अधिवेशन होने के पूर्व दिखाकर आडिट करवा लिया जाय ताकि वह आडिट हिसाब मण्डल के अधिवेशन में पेश हो सके।

[१६] वर्ष—

मण्डल का वर्ष मिती भाद्रपद शुक्ला ६ से प्रारम्भ हो कर भाद्रपद शुक्ला ५ को पूर्ण माना जावेगा जिससे हिसाब तैयार हो कर मण्डल के अधिवेशन में पेश हो सके।

१७ संग्रहित साहित्य—

(क) मंडल ने श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज साहब के व्याख्यानों का जो संग्रह कराया है उनमें से कोई संस्था या व्यक्ति सम्पादन कराके प्रकाशित कराना चाहें वे मंडल की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद ही मंडल की सूचनानुसार ऐसा कर सकते हैं। यानि बिना मंडल की स्वीकृति प्राप्त किये स्वेच्छानुसार संपादन या प्रकाशन नहीं करा सकते, यदि बिना स्वीकृति लिये जो ऐसा करेंगे तो उस सम्पादित या प्रकाशित साहित्य पर मंडल ऑफिस उचित आपत्ति ले सकेगा, और मंडल की सूचनानुसार उसमें उचित संशोधन या परिवर्तन करना पड़ेगा।

(ख) जो साहब सम्पादित साहित्य को मंडल के मारफत् प्रकाशित करावेंगे तो मंडल ऑफिस उनकी सूचनानुसार उस साहित्य को कम कीमत में देगा तथा उनकी सहायता के अनुसार उन्हें मंडल के सभासद् मानेंगे।

[१८] परिवर्तन—

मंडल के नियमोपनियम में परिवर्तन समय और परिस्थिति के अनुसार होता रहेगा किन्तु परिवर्तन करने का अधिकार मंडल की जनरल कमिटी को ही रहेगा, अधिवेशन में जो ठहराव पहले हुए हैं या अब होंगे वे इसके नियमोपनियम माने जावेंगे ॥ इत्यलम् ॥

इस ग्रन्थके सम्पादन-एवं प्रकाशन में द्रव्य सहायक-
श्रीमान् सेठ-इन्दरचंद्रजी सा. गेलड़ा-मद्रास

का

संक्षिप्त परिचय

श्रीमान् सेठ सा० श्री इन्द्रचन्दजी गेलड़ा कुचेरा (मारवाड़) निवासी हाल मुकाम मद्रास शिम्भूमल अमोलकचन्द गेलड़ा फर्म के मालिक हैं।

आपके पिताश्री अमोलकचन्दजी मद्रास के प्रसिद्ध व्यवसायियों में से एक थे एवं बड़े ही उदार दानी एवं परोपकारी महानुभाव थे। आपने अपने जीवन-काल में कई संस्थाओं को यथा मारवाड़ी औषधालय, कन्याशाला, गौशाला और बोर्डिङ्ग स्कूल आदि को हजारों रुपयों का अपूर्व दान दिया था। आप कई संस्थाओं के संस्थापक एवं सञ्चालक थे। आप गुप्त दान के पूरे हिमायती थे, यही कारण है कि समाज में जाहिर रूप से ख्याति प्राप्त न कर सके। आपके पश्चात् आपके सुपुत्र श्रीमान् इन्द्रचन्द्रजी साहब भी आपही के समान उदार दानी एवं दयालु

निकले। आपने भी अल्प काल ही में लाखों रुपयों का दान दिया। अपने पूज्य पिता श्री के नाम से एक मुश्त ५५०००) रू० श्री श्वे० स्था० जैन एज्युकेशनल सोसाइटी को देकर मद्रास में एक हाई स्कूल की स्थापना करवाई तथा इसके अतिरिक्त स्कूल, बोर्डिङ्ग हाउस, हाई स्कूल एवं बोर्डिङ्ग हाउस के भवन--निर्माण में भी हजारों रुपयों का दान दिया। आपही की कृपा का फल है कि कुचेरा (मारवाड़) में एक जिनेश्वर औषधालय चल रहा है, जहाँ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। आपने अपने पिता श्री की स्मृति में एक बहुत बड़ा फण्ड निकाला है, जिसमें से हमें भी इस ग्रन्थ के सम्पादन तथा प्रकाशनार्थ रूपे दोहजार की सहायता प्राप्त हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर अधिक सहायता प्राप्त होने की आशा है। हम इसके लिये सेठ साहब को कोटिशः धन्यवाद देते हैं और आशा करते है कि भविष्य में भी आपके द्वारा समाज के कई आवश्यक अङ्गों की कमी की पूर्ति होगी। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर समुन्नत, यशस्वी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न बनावे हमारी यही शुभ कामना है।

प्रकाशक—

आवश्यक निवेदन—

जिन महापुरुषों ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता प्राप्त करके राग-द्वेष तथा मोह आदि आन्तरिक विकारों को पूर्ण रूप से जीत लिया है, उन महात्माओं के प्रवचन ही संसार का वास्तविक कल्याण करने में समर्थ होते हैं। परन्तु उन गहन प्रवचनों को समझना सर्व साधारण के लिए सहज नहीं है। प्रवचनों की सुगम व्याख्या करके, उनमें से विशेष उपयोगी और सारभूत तत्वों का पृथक्करण करके उन्हें समझाना विशिष्ट विद्वता के साथ कषायों की मंदता की भी अपेक्षा रखता है। जिन महापुरुषों को यह दोनों गुण प्राप्त हैं, वही वास्तव में प्रवचनों के सच्चे व्याख्याकार हो सकते हैं।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) जैन समाज के सुप्रसिद्ध आचार्य, पूज्यवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज ऐसे ही एक सफल व्याख्याकार थे। पूज्यश्री ने सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशांग तथा उत्तराध्ययन आदि कई सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें से कुछेक व्याख्यान ही पिछले तेरह वर्ष में मण्डल की ओर से लिपिबद्ध हो सके हैं।

मण्डल द्वारा लिपिबद्ध कराए हुए व्याख्यानों में से श्री उपासकदशांग सूत्र की व्याख्या का सम्पादन पण्डित शान्तिलालजी वनमाली शेठ कर रहे हैं। श्रीमद्‌भगवती सूत्र की व्याख्या सं. १९८८ के देहली चातुर्मास से आरम्भ हुई और सं. १९९२ के रतलाम चातुर्मास तक की गई थी। इन अनेक

चातुर्मासों में प्रथम शतक की तथा द्वितीय शतक के कुछ ही उद्देशकों की ही व्याख्या हो पाई है। पूज्य श्री को अगर सम्पूर्ण व्याख्या भगवती सूत्र पर करने का अवकाश मिला होता तो हमारे लिए कितने सद्भाग्य की बात होती। पर ऐसा न हो सका।

श्रीभगवती सूत्र की इस व्याख्या को जनता के लिए उपयोगी एवं मार्गदर्शक समझ कर मैंने इसे मासिक रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा मण्डल के मोरवी-अधिवेशन में प्राप्त की थी। किन्तु ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने तथा अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण वह विचार उस समय कार्यान्वित न हो सका। दो वर्ष पहले श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की तरफ से श्रीमान् सेठ ताराचंदजी सा० गेलड़ा ने मण्डल से प्रस्तुत व्याख्या को उत्तम शैली से सम्पादित करवा कर प्रकाशित करने की प्रेरणा की और साथ ही आर्थिक सहायता भी देने की तत्परता दिखलाई। श्री गेलड़ाजी की इस पवित्र प्रेरणा से प्रेरित होकर मण्डल ने पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ द्वारा, जो उच्च कोटि के लेखक और विद्वान् हैं, यह व्याख्या उत्तम शैली से सुन्दर और रोचक भाषा में सम्पादन करवाई है। उसे पाठकों के कर-कमलों में पहुंचाते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। हमारा यह प्रकाशन फिलहाल प्रथम शतक तक ही परिमित रहेगा।

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम शतक की व्याख्या ही इतनी विस्तृत हो गई है कि क्राउन १६ पेजी साइज के करीब डेढ़ हजार से भी अधिक पृष्ठों में इसकी समाप्ति होगी। यह व्याख्या चार भागों में प्रकाशित करने का विचार किया गया

है। यह पुस्तक "श्रीमज्जवाहराचार्य के श्रीभगवती सूत्र पर व्याख्यान" का प्रथम भाग और मण्डल द्वारा प्रकाशित व्याख्यानसारसंग्रहमाला का १६वाँ पुष्प है। इस प्रथम भाग में सूत्र का मंगलाचरण, उपोद्घात, सूत्र का महत्व, सूत्रकार का वर्णन, जिनकी जिज्ञासा (तत्त्व जानने की इच्छा) से प्रकृत सूत्र का निर्माण हुआ है, उनकी उत्सुकता का वर्णन, भगवान् महावीर का वर्णन, भगवान् इन्द्रभूति की विनयशीलता का दिग्दर्शन आदि विषयों का विशद और सारग्राही वर्णन किया गया है।

श्रीभगवतीसूत्र में प्रथम शतक का वर्णन विशेषतः सूक्ष्म एवं गहन है। उसे समझने और समझाने में विद्वानों को भी कठिनाई होती है। ऐसे गहन भावों को सरलतर कर के पूज्य श्री ने जैनसमाज का अकथनीय उपकार किया है। आचार्य श्री की तत्त्व को स्फुट करती हुई किन्तु गम्भीर, सरस और रोचक व्याख्या से साधारण बुद्धि वाला भी लाभ उठा सकता है। इससे तथा श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की उदारता एवं सेठ ताराचन्दजी सा० की प्रेरणा से प्रेरित होकर यह विशाल आयोजन करने का साहस किया है।

जिस समय इस कार्य को प्रारम्भ करने का विचार किया गया, उस समय महायुद्ध की ज्वाला प्रचण्ड हो रही थी। कागज़ आदि प्रकाशन के सभी साधनों में बेहद मँहगाई थी। यही नहीं यहां तक कि कागज का मिलना भी कठिन था। इन कारणों से प्रकृत ग्रन्थ पर खर्च अधिक हुआ है। किन्तु उक्त सेठ साहब ने सम्पादन व्यय के अतिरिक्त प्रकाशन में भी आर्थिक सहायता दे कर इसे आधे मूल्य में

वितरण करवाने की उदारता प्रदर्शित की है। निस्सन्देह श्री गेलड़ाजी की सहायता से ही हम इस आयोजन में इतनी सरलता से सफल हो सके हैं। अतएव हम गेलड़ा बंधुओं को अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं।

मेरी यह भी हार्दिक इच्छा थी कि ऐसे उदारचित्त सज्जन का परिचय देने के लिए उनका फोटो पुस्तक में दिया जाय। परन्तु प्रयत्न करने पर भी फोटो या ब्लाक नहीं मिला इस लिए नहीं दे सका। यदि मिल गया तो अगले भाग में दिया जायगा।

अन्त में यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि पूज्य श्री के व्याख्यान तो साधुओं की मर्यादायुक्त भाषा में ही होते थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और प्रकाशन में कहीं किसी प्रकार का विपर्यास हुआ हो, प्रतिपादन में कोई न्यूनता या अधिकता हुई हो तो उसके लिए सम्पादक और प्रकाशक ही उत्तरदाता हो सकते हैं। सौजन्यपूर्वक जो सज्जन किसी त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे, हम उनके आभारी होंगे और अगले संस्करण में यथोचित संशोधन करने का ध्यान रक्खेंगे। इतिशम्

भवदीय—

हीरालाल नांदेचा — बालचांद श्री श्रीमाल सेक्रेटरी

प्रेसिडेन्ट — प्रकाशक—
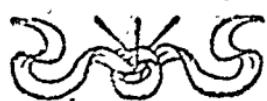
॥ णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्रीमद् भगवतीसूत्रम्

[पञ्चमाङ्गम्]

❀ शास्त्र प्रस्तावना ❀

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट समस्त श्रुत द्वादशांगी कहलाता है। अर्थात् वह बारह अंगों में विभक्त है। श्री भगवतीसूत्र, जिसका दूसरा नाम 'विआहपरणत्ति' (विवाहप्रज्ञप्ति अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति) भी है, द्वादशांगी में पांचवां अंग है। अन्यान्य अंगों की भांति यह अंग भी श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा प्रणीत है। यह अंग अत्यन्त गंभीर है और शब्द एवं अर्थ की अपेक्षा विस्तृत भी है। अतएव इस अंग के प्रारंभ में अनेक विध मङ्गलाचरण किये गये हैं। मङ्गलाचरण के आदि सूत्र इस प्रकार हैं:—

(१) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। (२) णमो बंभीए लिवीए। (३) णमो सुअस्स।

इन तीन सूत्रों द्वारा मंगलाचरण करके शास्त्र प्रारंभ किया गया है। प्रथम सूत्र में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। द्वितीय सूत्र में लिपि को नमस्कार किया गया है * और तृतीय सूत्र में श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है। इस प्रकार इन तीन सूत्रों द्वारा नमस्कार करके शास्त्र आरंभ किया है।

प्रस्तुत सूत्र के टीकाकारों ने भी टीका करने से पहले मंगलाचरण किया है। श्री अभयदेव सूरि द्वारा किया हुआ मंगलाचरण इस प्रकार है:—

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसङ्गमग्र्यं,
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम्।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतम्,
श्रीमज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि॥

नत्वा श्रीवर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा॥

अर्थात्:—मैं श्रीजिनेन्द्र देव को, जो जितरिपु हैं—जिन्होंने राग-द्वेष आदि शत्रुओं को जीत लिया है, विधिपूर्वक नमस्कार करता हूं। भगवान् सर्वज्ञ हैं। कई लोग राग आदि शत्रुओं का नाश होने पर भी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते। उनके मत का विरोध करने के लिए भगवान् को यहां सर्वज्ञ विशेषण लगाया गया है। इसके अतिरिक्त राग आदि शत्रुओं को जीतने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है सो

---

* लिपिको नमस्कार करने के विषय में विशेष वर्णन आगे आया है वह द्वितीय मंगलाचरण के विवेचन में देखिए।

भगवान् सर्वज्ञ हैं। आचार्य ने हेतुहेतुमद्भाव दिखाने के लिए सर्वज्ञ विशेषण दिया है । जो सर्वज्ञ होता है वह जितरिपु अर्थात् वीतराग अवश्य होता है।

जब पूर्ण रूप से आत्मधर्म प्रकट हो जाता है तब सर्वज्ञता आती है । अतएव भगवान् जिनेन्द्र ईश्वर हैं । उनके सब आत्मधर्म प्रकट हो चुके हैं । जिस आत्मा की प्रकृति चिदानन्द गुण मय हो जाती है, जो संसार के किसी भी पदार्थ की परतंत्रता में नहीं रहती वही आत्मा ईश्वर है। आचार्य ने यहां पर भी हेतुहेतुमद्भाव प्रदर्शित किया है । लोग अज्ञानी को भी ईश्वर मानते हैं, जो सांसारिक पदार्थों की परतंत्रता में है उसे भी ईश्वर मानते हैं । मगर परतंत्रता अनीश्वरत्व का लक्षण है। जो पराधीन है वह अनीश्वर है । उसमें ईश्वरत्व नहीं हो सकता।

जो ईश्वर होता है वह अनन्त होता है । जिसे अनन्त अर्थों का ज्ञान है वही ईश्वर है। जिसके ज्ञान का अन्त नहीं है, जो अनंत अर्थों का ज्ञाता है, जिसे अनन्त काल का ज्ञान है, जिसका ज्ञान अनन्त काल तक विद्यमान रहता है, उसे अनन्त कहते हैं। अथवा जो एक बार ईश्वरत्व प्राप्त करके फिर कभी ईश्वरत्व से च्युत नहीं होता उसे अनन्त कहते हैं। कई लोग ईश्वर का संसार में पुनरागमन-अवतार-होना मानते हैं। उनकी मान्यता का निराकरण करने के लिए ईश्वर विशेषण के पश्चात् ' अनन्त ' विशेषण दिया गया है।

ईश्वर अनन्त क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान ' अनन्त ' विशेषण के पश्चात् दिये हुए ' असंग ' विशेषण द्वारा किया गया है। तात्पर्य यह है कि संसार में उसी आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है जो संग अर्थात् बाह्य उपाधियों से युक्त होता है। जिस आत्मा के साथ राग-द्वेष आदि विकारों

का संग-संसर्ग है उसे जन्म-मरण का कष्ट भोगना पड़ता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वीतराग है, स्वाधीन है। किसी भी प्रकार की उपाधियां उसे स्पर्श तक नहीं करती हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वर पुनः जन्म ग्रहण करके अवतीर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असंग' अर्थात् निर्विकार होने के कारण ईश्वर अनन्त है—उसकी ईश्वरता का कभी अंत नहीं होता।

ईश्वर 'अग्रय' अर्थात् सब में श्रेष्ठ है। संसार के सभी प्राणी, क्या मनुष्य और क्या स्वर्ग के देवता, सभी अज्ञान से ग्रसित हैं, सभी जन्म-मरण आदि की व्याधियों से पीड़ित हैं, सभी को इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के द्वारा उत्पन्न होने वाले दुःख लगे हुए हैं। इन सब प्रकार के दुःखों से मुक्त केवल ईश्वर ही है। अतएव ईश्वर अग्रय है-सर्वश्रेष्ठ है।

भगवान् 'सार्वीय' हैं। सब का हित-कल्याण करने वाला सार्वीय कहलाता है। भगवान् वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करके पहले सर्वश्रेष्ठ-अग्रय बने, फिर जगत् के कल्याण के लिए-बिना किसी प्रकार के भेद भाव के, जगत् के जीवों को कल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया है। अतएव वह सार्वीय हैं।

भगवान् सर्वश्रेष्ठ क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर सार्वीय विशेषण में निहित है। भगवान् सब का कल्याण करते हैं, इस कारण वह सर्व श्रेष्ठ-अग्रय हैं। जो सब का हित करता है वही सर्व श्रेष्ठ कहलाता है।

भगवान् 'अस्मर' अर्थात् कामविकार से रहित हैं। जो काम-विकार से रहित होता है वही सब का हित कर सकता है।

भगवान् 'अनीश' हैं। जिनके ऊपर कोई ईश्वर न हो वह अनीश कहलाते हैं। जो स्वयं बुद्ध हैं, जिन्होंने अपने-आपसे

बोध प्राप्त किया है, किसी दूसरे से नहीं उनके ऊपर दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। कई लोग मुक्तात्माओं से भी ऊपर अनादि ईश्वर की सत्ता मानते हैं। यह मान्यता समीचीन नहीं है। वस्तुतः मुक्तात्मा और ईश्वर में भेद नहीं है। जो मुक्तात्मा है वही ईश्वर है और मुक्तात्मा से उच्च कोई सत्ता नहीं है, यह सूचित करने के लिए भगवान् को 'अनीश' विशेषण लगाया गया है।

भगवान् 'अनीह' अर्थात् निष्काम हैं। अनीह होने के कारण वे 'अनीश' हैं जो निष्काम होगा उसी पर कोई ईश्वर—स्वामी नहीं हो सकता। जिसमें कामना है उसी पर स्वामी-मालिक हो सकता है। निष्काम पुरुष का स्वामी नहीं हो सकता। क्या बादशाह, साधुओं पर आज्ञा चला सकता है?

'नहीं'।

क्योंकि साधुओं को धन आदि की कामना नहीं है। जब साधुओं पर भी किसी का हुक्म नहीं चल सकता तो ईश्वर पर कौन हुक्म चला सकता है? अतएव अनीश वही हो सकता है जो अनीह—कामना रहित हो।

भगवान् 'इद्ध' हैं। अनन्त ज्ञान-लक्ष्मी से देदीप्यमान हैं। अथवा तप-तेज से अथवा शरीर की उस कान्ति से, जिसे देख कर देव भी चकित रह जाते हैं, देदीप्यमान हैं। ऐसे भगवान् जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूं।

जिनेन्द्र भगवान् 'सिद्ध' हैं। प्रश्न हो सकता है कि जिन्होंने सिद्धि-मुक्ति प्राप्त करली है उन्हें सिद्ध कहते हैं। अगर जिनेन्द्र भगवान् सिद्ध हैं तो फिर 'सार्वीय' (सब के हित कर) कैसे हो सकते हैं? अरिहंत भगवान् उपदेश देने के कारण सार्वीय हो सकते हैं पर सिद्ध भगवान् जगत्

का कुछ भी कल्याण नहीं करते। उन्हें सार्वीय विशेषण क्यों दिया? अगर इस मंगलाचरण में अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया गया है तो 'सिद्ध' विशेषण क्यों दिया गया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि तीन बातों से अर्थात् * कष छेद और ताप-इन बातों से जिनके सिद्धान्त का अर्थ सिद्ध है, जिनके सिद्धान्त सिद्धार्थ हैं, ऐसे द्वादशांगी रूप सिद्धान्त जिन भगवान् ने बताये हैं उन्हें सिद्ध आगम कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिनके सब काम सिद्ध हो चुके हों—जो कृतकृत्य हो गये हों उन्हें भी सिद्ध कहते हैं। तथा संसार के लिये जो मंगलरूप हों उन्हें भी सिद्ध कहते हैं। इन विवक्षाओं से यहां अरिहंत भगवान् को भी 'सिद्ध' विशेषण लगाना अनुचित नहीं है।

अथवा इस मंगलाचरण में अरिहंत और सिद्ध दोनों परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। सिद्ध-नमस्कार के पक्ष में यह समझना चाहिए कि सिद्ध भगवान् आत्मविशुद्धि के आदर्श बनकर जगत् का कल्याण करते हैं, अतः वह सार्वीय हैं।

भगवान् शिव हैं। उन्हें किसी प्रकार का रोग या उपद्रव नहीं है अतएव वह शिव स्वरूप है। तथा उनका स्मरण और ध्यान करने से अन्य जीवों के रोग एवं उपद्रव मिट जाते हैं। इसलिए भी भगवान् शिव है।

भगवान् 'करणव्यपेत' हैं अर्थात् शरीर और इन्द्रियों से रहित है। यहां फिर वही आशंका की जा सकती है कि अरि-

---

* जैसे सुवर्ण की परीक्षा कष अर्थात् कसौटी पर कसने से, छेद से अर्थात् काटने से और ताप से अर्थात् तपाने से की जाती है, उसी प्रकार आगम की परीक्षा भी उक्त तीन बातों से की जाती है। आगम के विषय में कष आदि का स्वरूप इस प्रकार है:—

हन्त भगवान् शरीर सहित होते हैं और इन्द्रियां भी उनके विद्यमान रहती हैं, तब उन्हें 'करणावपेत क्यों कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यद्यपि अरिहंत भगवान् की इन्द्रियां विद्यमान रहती है फिर भी वह इन्द्रियों का उपयोग नहीं करते । अरिहंत भगवान् अपने परम प्रत्यक्ष केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानते हैं । उनकी इन्द्रियां निरुपयोगी हैं । जैसे सूर्य का पूर्ण प्रकाश फैल जाने पर कोई दीपक भले ही विद्यमान रहे फिर भी उसका कुछ उपयोग नहीं होता सब लोग सूर्य-प्रकाश द्वारा ही वस्तुओं को देखते हैं । इसी प्रकार भगवान् इन्द्रियां होने पर भी इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते हैं । उनकी इन्द्रियों का होना और न होना समान है । इस अपेक्षा से भगवान् को 'करणावपेत' कहा है ।

---

* पाणवहाईआणं पावठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाण ज्झयणाईणं जो य विही एस धम्म कसो ॥ १ ॥

अर्थात्—हिंसा आदि पाप स्थानकों का निषेध तथा ध्यान अध्ययन आदि सात्विक क्रियाओं का विधान धर्म के विषय में 'कष' समझना चाहिए।

बज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण वाहिज्जए तयं तियमा ।
संभवइ य परिशुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥ २ ॥

अर्थात्—निश्चित रूप से बाह्य आचार से बाधित न होना और बाह्यचार से पूर्ण रूपेण शुद्ध होना धर्म के विषय में छेद है ।

जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ ३ ॥

अर्थात्—आत्मा आदि भावों का विधान और बंध-मोक्ष आदि तत्त्वों का साधन धर्म के विषय में 'ताप' है ।

इन तीन परीक्षाओं में जो सत्य सिद्ध हो वही आगम और धर्म सच्चा मानना चाहिए ।

—हरिभद्र सूरि ।

तथा यद्यपि अरिहंत भगवान् सशरीर हैं तथापि वह शरीरा सक्ति से सर्वथा रहित है। उनमें तनिक भी देह की ममता नहीं है। अतएव शरीर के प्रति मोह रहित होने से उन्हें करणावपेत कहा गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण से विशिष्ठ श्री अरिहंत भगवान् को तथा सिद्ध भगवान् को, जिन्होंने कर्म रूपी रिपुओं को जीत लिया है, मैं प्रणाम करता हूं।

यह सामान्य रूप से जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की गई है। अब टीकाकार आचार्य सन्निकट उपकारक और वर्त्तमान में जिनका शासन चल रहा है उनका नाम लेकर नमस्कार करते हैं।

'नत्वा श्री वर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे।'

अर्थात्—श्रीवर्द्धमान भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं। यद्यपि इस सूत्र के मूल कर्त्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं, लेकिन सुधर्मा स्वामी ने इसकी रचना भगवान् महावीर से सुनकर की है। अतएव सुधर्मा स्वामी के भी गुरु लोक कल्याणकारी भगवान् श्री वर्द्धमान को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूं।

भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि का आश्रय लेकर श्री सुधर्मा स्वामी यदि इस सूत्र की रचना न करते तो आज हम लोगों को भगवान् की वाणी का लाभ कैसे मिलता ? अतएव श्री सुधर्मा स्वामी भी हमारे उपकारक हैं। इस कारण उन्हें भी नमस्कार करता हूं।

हीरा और मोती होता है खान और समुद्र में, मगर यदि होशियार शिल्पकार मोती और हीरे को आभूषण रूप में प्रस्तुत न करे तो क्या मोती या हीरा शरीर पर ठहर सकता है ? नहीं।

अगर शिल्पकार असली हीरे या मोती को आभूषण में न लगाकर, नकली लगावे तो क्या कोई शिष्ट पुरुष उस आभूषण की कद्र करेगा ? नहीं।

अगर सच्चे मोती कुशलता के साथ आभूषण में लगाये गये हों तो उन्हें शरीर पर धारण करने में सुविधा होती है और पीछे वालों को भी उस आभूषण के धारण करने में आनन्द होता है इसी प्रकार भगवान् की अनन्त ज्ञान की खान से यह श्रुत-रत्न उत्पन्न हुआ है, तथापि सुधर्मा स्वामी जैसे कुशल शिल्पकार इसे आभूषण के समान सूत्र रूप में न रचते तो ज्ञान-रत्न का यह आभूषण हमें प्राप्त न होता। अगर इसमें सुधर्मास्वामी ने अपनी ओर से कुछ मिलावट की होती तो यह सच्चा आभूषण न कहलाता, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी सम्मिश्रण नहीं किया है यह बात सुधर्मा स्वामी ने जगह-जगह स्पष्ट कर दी है। 'तेण भगवया एवमक्खायं' इत्यादि वाक्य इस सत्य की प्रतीति कराते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् के अनन्त ज्ञान रूपी खान से निकले हुए ज्ञान रूपी रत्न को सुधर्मा स्वामी ने सूत्र रूपी आभूषण में जड़ दिया है, अतएव मैं श्रीमान् सुधर्मा स्वामी को भी नमस्कार करता हूं।

सुधर्मा स्वामी ने भगवान् के अनन्त ज्ञान से निकले हुए ज्ञान-रत्न को सूत्र-आभूषण में जड़ दिया, तथापि उनके पश्चात् होने वाले अनेक आचार्यों ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे सुरक्षित रक्खा है। अतएव उक्त सब आचार्य भी महान् उपकारक हैं। इसलिये टीकाकार ने कहा है—

"सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो"

अर्थात्—इससे पहले सूत्र की व्याख्या अनेक आचार्यों

ने की है। उन आचार्यों के अनुग्रह से ही यह सूत्र रूपी रत्न का आभूषण हमें प्राप्त हुआ है। इसलिए उन सब अनुयोग-वृद्ध आचार्यों को भी नमस्कार है।

अन्त में टीकाकार आचार्य भगवान् की वाणी को नमस्कार करते हैं—

वाण्यै सर्वविदस्तथा

अर्थात्—जिनकी वाणी समस्त वस्तुओं के ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, जो वाणी भगवान् से निकली है, उस सर्वज्ञ-वाणी को भी मैं नमस्कार करता हूं।

टीकाकार ने अपने मनोभाव प्रकट करते हुए मंगलाचरण के पश्चात् कहा है—

एतट्टीका-चूर्णी जीवाभिगमादिवृत्तिलेशांश्च।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं, विवृणोमि विशेषतःकिञ्चित्॥

अर्थात्—टीकाकार कहते हैं कि टीका रचने का मेरा यह प्रयास स्वयं बुद्धि से नहीं है, किन्तु टीका, चूर्णी जीवाभिगम की टीका के अंशों आदि की सहायता से कुछ विस्तार के साथ पांचवें अंग की कुछ विस्तृत यह टीका बना रहा हूं।

आचार्य के इस कथन से प्रकट है कि भगवतीसूत्र पर इस टीका से पहले भी कोई टीका विद्यमान थी। वह टीका संभवतः कुछ संक्षिप्त होगी और इस कारण भगवतीसूत्र के मूलगत भाव को समझने में अधिक उपयोगी न होती होगी, अतः सामान्य शिष्यों को भी समझाने के अभिप्राय से आचार्य ने यह टीका 'किञ्चिद् विशेषतः' अर्थात् कुछ विस्तार से लिखी है। इस प्रकार यद्यपि वह प्राचीन टीका आज देखने में नहीं आती, फिर भी आचार्य के कथन से उसका होना स्पष्ट

रूप से सिद्ध है। आचार्य ने यहां भगवतीसूत्र की टीका का ही निर्देश नहीं किया है किन्तु चूर्णी का भी निर्देश किया है। 'एतट्टीका-चूर्णी' इस पद में 'एतत्' सर्वनाम भगवतीसूत्र के लिए ही आया है, यह निस्संदेह है। यह एक समस्त पद है और उससे भगवतीसूत्र की टीका का तथा चूर्णी का अभिप्राय प्रकट होता है। अतः जान पड़ता है कि भगवतीसूत्र की यह टीका बनने से पहले टीका और चूर्णी दोनों थीं। इन में से चूर्णी तो आज भी उपलब्ध है, पर टीका अभीतक उपलब्ध नहीं है।

टीका रचने की प्रतिज्ञा करने के पश्चात् आचार्य ने इस सूत्र की प्रस्तावना लिखी है। प्रस्तावना में वह सूत्र को कितने बहुमान से देखते हैं, यह जानने योग्य है। प्रस्तावना के संक्षिप्त शब्दों में ही उन्होंने सूत्र का सार भर दिया है। प्रस्तावना वास्तव में अत्यन्त भावपूर्ण और मनोहारिणी है।

प्रस्तावना में उन्होंने प्रस्तुत सूत्र के नाम की चर्चा की है। इस सूत्र का नाम 'विवाहपएणत्ति' या भगवतीसूत्र है। यह नाम क्यों है, इसकी चर्चा आगे की जायगी।

टीकाकार ने इस पंचम अंग को उन्नत और विजय में समर्थ जयकुंजर हाथी के समान निरूपण किया है। जयकुंजर हाथी में और भगवतीसूत्र में किस धर्म की समानता है, जिसे आधार बनाकर भगवतीसूत्र को कुंजर की उपमा दी गई है? यह स्पष्ट करते हुए आचार्य ने सुन्दर श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है। उसका ठीक-ठीक सौन्दर्य संस्कृतज्ञ ही समझ सकते हैं, पर सर्वसाधारण की साधारण जानकारी के लिए उसका भाव यहां प्रकट किया जाता है।

जयकुंजर अपनी ललित पदपद्धति से प्रबुद्धजनों का मनोरंजन करता है अर्थात् जयकुंजर हाथी की चाल सुन्दर होती

है। वह इस प्रकार धीरे से पैर रखता है कि देखने में अतीव मनोहर प्रतीत होता है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र भी अपनी ललित पदपद्धति से अर्थात् सुन्दर पद-विन्यास से विज्ञजनों का मनोरंजन करने वाला है। इस सूत्र की पदरचना ऐसी ललित और मनोहर है कि समझनेवाले का चित्त उसे देखकर आनंदित होजाता है। मगर प्रबुद्धजन ही उस आनंद का अनुभव कर सकते हैं। अज्ञ-नासमझ लोगों को अगर आनंद न आवे तो इसकी पदरचना को इसी प्रकार दोष नहीं है, जैसे अंधा आदमी हाथी न देख सके तो इसमें हाथी का दोष नहीं है।

जयकुंजर हाथी उपसर्गनिपात-अव्यय रूप है और भगवतीसूत्र भी उपसर्गनिपात-अव्यय रूप है। तात्पर्य यह है कि जयकुंजर एक संग्रामी हाथी है। शत्रुपक्ष की ओर से उस पर उपसर्गों का निपात होता है अर्थात् उसे कष्ट पहुंचाया जाता है, फिर भी जयकुंजर अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र के लिए यह पांचवां आरा उपसर्ग रूप है। जैसे अन्य सब शास्त्रों पर पांचवें आरे रूप उपसर्ग का निपात हुआ उसी तरह भगवतीसूत्र पर भी उपसर्ग पड़ा। लेकिन यह सूत्र अनेक अग्निकांड होनेपर भी बचा रहा है। अतएव यह भी उपसर्ग-निपात-अव्यय रूप है।

जब भारतवर्ष में साम्प्रदायिक दुरभिनिवेश की प्रबलता थी, मतभेद-सहिष्णुता का नाम मात्र तक नहीं था, शास्त्र और ग्रंथ अग्नि की लपलपाती हुई ज्वालाओं में भस्म कर दिये जाते थे और कहीं-कहीं तो उनके पढ़ने वाले तक मौत के घाट उतार दिये जाते थे, उस समय में भी यह शास्त्र बचा रहा। ऐसे विकराल संकट-काल में भी इस सूत्र ने अपना स्वरूप नहीं त्यागा।

इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र द्वादशांगी में सम्मिलित है और द्वादशांगी श्रुत, अर्थ की अपेक्षा शाश्वत है—उसका कभी अभाव नहीं होता। अतएव पंचम आरा आदि रूप उपसर्ग आने पर भी यह सूत्र सदा अव्यय-अविनश्वर है।

'उपसर्ग-निपात-अव्यय' पद की संघटना व्याकरण के अनुसार दूसरे प्रकार से भी होती है। जैसे जयकुंजर उपसर्गों का निपात होने पर भी अव्यय रहता है, उसी प्रकार भगवती सूत्र उपसर्ग निपात और अव्यय से युक्त है। अर्थात् इसमें उपसर्गों का, निपातों का तथा अव्ययों का प्रयोग किया गया है।

'जयकुंजर का शब्द सुनकर प्रतिपक्षी घबड़ा उठते हैं, अतएव जयकुंजर घन और उदार शब्द वाला होता है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र के शब्द सुन कर भी प्रतिपक्षी घबड़ा जाते हैं। अतएव यह सूत्र भी घन और उदार शब्दों वाला है।

जैसे जयकुंजर पुरुषलिंग सहित होता है, इसी प्रकार प्रकृत भगवतीसूत्र भी लिंग और विभक्ति से युक्त है।

जैसे जयकुंजर सदा-ख्यात होता है उसी प्रकार यह सूत्र भी सदा ख्यात है।

अर्थात्—इस सूत्र के सभी आख्यान—कथन सद्रूप हैं।

जैसे जयकुंजर सुलक्षण वाला होता है उसी प्रकार प्रकृत सूत्र भी सुलक्षण है, अर्थात् इसमें अनेक पदार्थों के-जीवादि तत्वों के समीचीन लक्षण विद्यमान हैं।

जैसे सिंचामन ऐरावत आदि के रक्षक देव होते हैं, इसी प्रकार इस सूत्र के रक्षक अनेक देव हैं।

जैसे जयकुंजर का उद्देशक अर्थात् मस्तक सुवर्ण (सोने) से मंडित होता है, इसी प्रकार सूत्र के उद्देशक सुवर्णों से अर्थात् सुन्दर अक्षरों से मंडित हैं।

जयकुंजर नाना प्रकार के अद्भुत चरितों वाला होता है अर्थात् अनेक चालों से शत्रु पर आक्रमण करता है, अतएव वह नानाविध-अद्भुत-चरितों से युक्त है, इसी प्रकार प्रस्तुत भगवतीसूत्र में नाना प्रकार के अद्भुत चरित हैं अर्थात् अनेकानेक चरितों का वर्णन है।

हाथी विशाल-काय होता है, इसी प्रकार यह शास्त्र भी विशालकाय है अर्थात् अन्य सभी अंगों की अपेक्षा विस्तृत है। छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर इसमें विद्यमान हैं। अतः स्थूलता की दृष्टि से भी यह हस्ती के समान है।

हाथी चार चरण (पैर) वाला होता है, तो यह सूत्र भी चार चरण (अनुयोग) वाला है। जब अन्य शास्त्रों में प्रायः एक ही अनुयोग होता है, तब इसमें चारों अनुयोग अर्थात् द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणानुयोग, और धर्मकथानुयोग हैं।

हाथी के दो नेत्र होते हैं, उसी प्रकार प्रकृत शास्त्र रूपी जयकुंजर के भी ज्ञान और चारित्र रूप दो नेत्र हैं। कोई-कोई लोग सिर्फ ज्ञान को सिद्धिदाता मानते हैं, कोई केवल चारित्र को। मगर इस सूत्र में दोनों को ही सिद्धिदाता माना गया है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

हाथी के मूसल के समान दो दांत होते हैं, जिनसे वह संग्राम में विजय-लाभ करता है। इसी प्रकार इस सूत्र में द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय रूपी दो सुदृढ़ दंत हैं, जिनके द्वारा प्रतिपक्षियों के समक्ष वह विजयशील है। द्रव्यास्तिकनय और पर्यायास्तिकनय अनेकान्तवाद के मूलाधार हैं और अनेकान्तवाद अजेय है।

जैसे हाथी के दो कुंभस्थल होते हैं, वैसे ही इस सूत्र के

निश्चयनय और व्यवहारनय रूपी दो कुंभस्थल हैं । हाथी के दो कान होते हैं इसी प्रकार सूत्र रूपी कुंजर के योग और क्षेम रूपी दो कान हैं । (अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा होना क्षेम है)।

भगवती सूत्र की प्रस्तावना की वचनरचना जयकुंजर की सूंड के समान है और समाप्ति-वचन पूंछ के समान हैं। काल, आत्मरूप, संबंध, संसर्ग, उपकार, गुणिदेश, शब्द और अर्थ रूप मनोहर प्रवचन-रचना जयकुंजर के तंग के समान है। अथवा काल आदि आठ सूत्र के आचार इसके तंग है।

सामान्य विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष विधि को अपवाद कहते हैं। उदाहरणार्थ-साधु को सचित जल का स्पर्श न करना चाहिए, यह उत्सर्ग विधि है, मगर कारण उपस्थित होने पर नदी पार करने का विधान अपवाद है। इस प्रकार उत्सर्ग और अपवाद रुपी दो घंटा इस सूत्र रूपी हस्ती के विद्यमान हैं जिन्होंने दिग-दिगंत को गुंजा रक्खा है।

जयकुंजर के आगे-आगे विविध प्रकार के वाद्य बजते हैं, इसी प्रकार इस सूत्र रूपी हस्ती के आगे यश का नक़्क़ारा बजता है। यश रूपी नक्कारे की ध्वनि सारे संसार में फैल रही है।

हाथी पर अंकुश रहता है जिसके कारण वह वश में बना रहता है। अंकुश के अभाव में हाथी का वशीभूत होना कठिन है। इस सूत्र रूपी हस्ती को वश करने के लिए अंकुश क्या है ? इसका उत्तर आचार्य ने दिया है—स्याद्वाद रूपी अंकुश के द्वारा यह शास्त्र वशीभूत होता है। जिस हाथी पर अंकुश नहीं होता वह बिगड़ने पर अपने पक्ष को हानि पहुंचाने लगता है, इसी प्रकार जिस शास्त्र पर स्याद्वाद का अंकुश नहीं, वह भी अपने ही पक्ष का घात करने लगता है। प्रकृत

शास्त्र ऐसा नहीं है। यह स्याद्वाद से अनुगम है। अतः कुंजर के समान स्याद्वाद रूपी अंकुश से युक्त है।

हाथी जब चलता है तो उसके आगे पीछे या अगल-बगल में बर्छे वाले भाले वाले या तीरंदाज चलते हैं, जिससे हाथी किसी को हानि न पहुंचाने पावे इसी प्रकार इस सूत्र के पक्ष में अनेक हेतु चलते हैं। वे हेतु इससे किसी की हानि नहीं होने देते।

जय कुंजर राजाओं के पास होता है और राजा लोग संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए उसे नियुक्त करते हैं। जैसे कोणिक राजा का उदायन हाथी और इन्द्र का ऐरावत हाथी है। तो इस सूत्र रूपी हस्ती को नियुक्त करने वाला कौन है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि भगवती सूत्र रूपी जय कुंजर के नायक या नियोक्ता महावीर भगवान् हैं। उन्होंने मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूपी शत्रुओं की सेना का दलन करने के लिए इसकी नियुक्ति की है।

राजाओं के हस्ती पर योद्धा रहते हैं तो भगवान महावीर के इस जय कुंजर पर योद्धा कौन है? राजाओं के हस्ती को योद्धा सुशोभित करते हैं तो इसे कौन सुशोभित करता है? इसका उत्तर यह है कि कल्पगण का नायक-संघ का आचार्य इसे सुशोभित करता है और मुनि रूपी योद्धा इसके पीछे २ चलते हैं। जो कायर हैं, संसार के प्रपंच में पड़े हुए हैं, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते। मुनि रूपी योद्धा उसके स्वरूप को भली भांति जान सके, इस उद्देश्य से पूर्वाचार्यों ने अनेक प्रकार की व्याख्याएँ रची हैं। प्रश्न होता है कि जब पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित व्याख्याएं विद्यमान हैं तो आपको नवीन व्याख्या करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि वे अनेक श्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं, फिर भी बहुत बुद्धि-

शाली पुरुष ही उन्हें समझ सकते हैं क्योंकि वे संक्षिप्त हैं। उनसे अल्प बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को विशिष्ट लाभ पहुंचना संभव नहीं है, अतः मैं प्राचीन टीका और चूर्णी रूपी नाडिका का सार लेकर एक नयी नाडिका तैयार करता हूं। जैसे कमजोर नेत्रों वाला पुरुष ऐनक का आश्रय लेकर देखता है, उसी प्रकार मैं प्राचीन टीका चूर्णी और जीवाभिगम आदि के विवरणों का सार लेकर नवीन विस्तृत और इसी लिए मंद बुद्धि शिष्यों के लिए उपकारक यह यंत्र घटिका निर्माण करता हूं।

तात्पर्य यह है कि—इस सूत्र की व्याख्याएँ प्राचीन काल के महान आचार्यों ने की हैं, वे संक्षिप्त और गंभीर होने के कारण विशेष बुद्धिसम्पन्न पुरुषों का उपकार करने में समर्थ हैं। थोड़ी बुद्धि वाले उन्हें नहीं समझ सकते। अतएव मैं जयकुंजर-नायक भगवान् महावीर की आज्ञा लेकर और गुरुजनों की आज्ञा पाकर इस टीका को आरंभ करता हूं। मैं अपने गुरुजनों से अधिक कुशल नहीं हूं, न उनसे अधिक कौशल प्रदर्शित कर सकता हूं लेकिन शिल्पी के कुल में शिल्पी ही जन्म लेता है। जैसे शिल्पकार पिता का शिल्प कार्य देखते देखते पुत्र भी शिल्पकार बन जाता है, इसी प्रकार मेरे पूर्वाचार्य गुरु सूत्र-रचना में कुशल कारीगर हुए हैं। उन्हीं के कुल में मैंने जन्म धारण किया है, अतः मैं भी टीका प्रारंभ करना चाहता हूं। प्रकृत रचना उनके लिए नहीं है जो मुझसे अधिक बुद्धि और ज्ञान के धनी हैं, बल्कि उनके लिए है जो, मुझसे न्यून मति वाले हैं।

नाम की व्याख्या

भगवतीसूत्र का एक नाम ' विआह पराणति ' सूत्र है।

इस नाम का अर्थ क्या है ? क्यों यह नाम पड़ा ? इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं 'विआह-पराणत्ति' (वि-आ-ख्या प्रज्ञप्ति) नाम में 'वि' का अर्थ है विविध प्रकार से । 'आ' का अर्थ है अभिविधि या मर्यादा । 'ख्या' का अर्थ है कथन । और 'प्रज्ञप्ति' का अर्थ है प्ररूपणा । तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में विविध प्रकार के जीव आदि पदार्थों संबंधी, समस्त ज्ञेय पदार्थों की मर्यादा पूर्वक अथवा परस्पर पृथक् लक्षणों के निर्देशपूर्वक, श्री महावीर स्वामी से गौतम गणधर आदि द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर-कथन का प्ररूपण किया गया है, वह 'विआहपराणत्ति' (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र है ।

तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर से श्रीगौतम स्वामी ने जो प्रश्न किये और भगवान् ने गौतम को जो यथावस्थित उत्तर दिये, उन प्रश्नों और उत्तरों की प्ररूपणा सुधर्मा स्वामी ने अपने ज्येष्ठ अन्तेवासी जम्बू स्वामी को सुनाई । श्रीसुधर्मा स्वामी ने कहा—'हे जम्बू' गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर के समक्ष ये प्रश्न उपस्थित किये और भगवान् ने उन प्रश्नों का यह उत्तर दिया । इस प्रकार गौतम और महावीर स्वामी के कथन का जिस सूत्र में निरूपण किया गया है वह व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र है । इस सूत्र में समस्त जीवादि पदार्थों का निरूपण किया गया है ।

अथवा विविध प्रकार से या विशेष रूप से जिनका आख्यान किया जाय वह व्याख्या—अर्थात् पदार्थों की वृत्तियां-धर्म । पदार्थों के धर्मों का (व्याख्याओं का) जिसमें प्ररूपण किया जाय वह सूत्र 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' है ।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—अभिलाप्य और अनभिलाप्य । वाणी द्वारा जिन पदार्थों का कथन किया जा सकता

है वह अभिलाप्य हैं और जो पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होता हो मगर वाणी द्वारा कहा न जा सकता हो वह अनभिलाप्य कहलाता है । जो अभिलाप्य पदार्थ विशेष रूप से कहे जा सकें उन्हें 'व्याख्या' कहते हैं और उनका जहां निरूपण किया गया है वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र कहलाता है।

अथवा—अर्थ का प्रतिपादन 'व्याख्या' कही जाती है। उस व्याख्या का अर्थात् पदार्थ के प्ररूपण का जिसमें प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) ज्ञान दिया गया है वह 'व्याख्या-प्रज्ञप्ति' सूत्र है।

तात्पर्य यह है कि—व्याख्या का अर्थ है-पदार्थ का कथन और प्रज्ञप्ति का अर्थ है-बोध । अर्थात् जहां पदार्थ के कथन का बोध कराया गया है, वह 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' है।

अथवा--जिस शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करने से नाना प्रकारकी व्याख्या फैल जावे या व्याख्यान करने की शक्ति आ जाय, वह शास्त्र व्याख्या प्रज्ञप्ति कहलाता है।

अथवा—व्याख्या करने में अत्यन्त प्राज्ञ—कुशल भगवान् महावीर से जिसकी प्रज्ञप्ति हुई है—बोध हुआ है वह सूत्र विआहपण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) कहलाता है।

अथवा--विवाह अर्थात् विविध प्रकार का या विशिष्ट प्रकार का अर्थोंका प्रवाह अथवा नयों का प्रवाह जिस शास्त्र में प्ररूपण किया गया है वह 'विवाहपण्णत्ति' सूत्र है। तात्पर्य यह है कि भगवती सूत्र में कहीं अर्थों का प्रवाह चलता है, कहीं नयों का प्रवाह चलता है । नयों की थोड़ी व्याख्या में ही ७०० नय हो जाते हैं और आचार्यों ने अनन्त नयों का अस्तित्व माना है । इस नयप्रवाह की व्याख्या जिस सूत्र में हो उसका नाम विवाहपन्नति है।

अथवा--'विवाह' शब्द का अर्थ होता है विस्तारमय अथवा बाधारहित-विबाध । इस प्रकार की प्रज्ञा की जिस

शास्त्र से प्राप्ति होती है, वह विवाहपरणात्ति है । अर्थात् भगवतीसूत्र का अध्ययन, चिन्तन, मनन करने से विस्तृत बोध प्राप्त होता है और विवाध-निर्दोष बोध की प्राप्ति होती है उसे भी विवाहपरणत्ति (विवाहप्रज्ञप्ति) कहते हैं।

अथवा—विवाध या विवाह अर्थात् बाधा रहित जो प्रज्ञप्ति है वह विवाह प्रज्ञप्ति या विवाध प्रज्ञप्ति है। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में की गई अर्थ-प्ररूपणा में किसी भी प्रकार की बाधा न आ सके वह शास्त्र विवाहप्रज्ञप्ति या 'विवाध प्रज्ञप्ति' कहलाता है।

टीकाकार ने थोड़ा-थोड़ा रूपान्तर करके 'विआहपरणति' सूत्र के दस नाम गिनाये हैं। अन्त में कहा है कि इसका जगत् प्रसिद्ध नाम 'भगवतीसूत्र' है । यह नाम इस सूत्र की महत्ता-पूज्यता-का द्योतक है। यों सामान्य रूप से सभी शास्त्र पूज्य हैं, लेकिन प्रकृत शास्त्र में विशेषता है, अतएव यह आदरणीय है और इसी कारण इस शास्त्र को 'भगवती सूत्र' कहते हैं।

आज यह शास्त्र 'भगवती' नाम से जितना प्रसिद्ध है उतना और किसी नाम से नहीं। इस सूत्र को यह नाम आचार्यों ने दिया है।

मंगल

टीकाकार ने सूत्र के नामों का निर्देश और उनकी सामान्य व्याख्या करने के पश्चात् शास्त्र की आदि में वर्णन किये जाने वाले फल, योग, मंगल और समुदायार्थ आदि आदि द्वारों का उल्लेख किया है। प्रत्येक शास्त्रकार शास्त्र के आरंभ में उसका फल बतलाते हैं, योग अर्थात् संबंध प्रकट करते हैं,

मंगलाचरण करते हैं और समुदायार्थ को अर्थात् उस शास्त्र में निरूपण किये जाने वाले विषय का सामान्य रूप से उल्लेख करते हैं। फल, योग, मंगल और समुदायार्थ का विवेचन विशेषावश्यक भाष्य में किया गया है, वहां से इन सब का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

शास्त्रकार विघ्नों को दूर करने के लिए, शिष्यों की प्रवृत्ति के लिए और शिष्ट जनों की परम्परा का पालन करने के लिए मंगलाचरण, अभिधेय, प्रयोजन और संबंध का निर्देश यहां करते हैं।

शास्त्र रचना और शास्त्र के पठन-पाठन में अनेक विघ्न आ जाते हैं। उन विघ्नों का उपशमन करने के लिए शास्त्र की आदि में मंगलाचरण किया जाता है। इस कथन से प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि इस शास्त्र की आदि में मंगलाचरण करते हैं तो क्या यह शास्त्र स्वयं ही मंगल रूप नहीं है? प्रकृत शास्त्र यदि मंगलमय है तो अलग मंगल करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि शास्त्र यद्यपि मंगल रूप ही है, तथापि शिष्यों के मन में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि हमने मंगलाचरण कर लिया है, तो क्षयोपशम अच्छा होता है। इसके अतिरिक्त गणधरों ने भी सूत्र रचना के आरंभ में मंगल किया है। जब गणधर जैसे विशिष्ट ज्ञान वाले महात्मा भी मंगल करते हैं तो उनकी परम्परा का पालन करने के लिए हमें भी मंगल करना चाहिए। क्यों कि—

महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

अर्थात्—महापुरुषों ने जो कार्य किये हैं वे सोच-विचार कर ही किये हैं। उनके कार्यों के विषय में तर्क-वितर्क न करके, उनका अनुकरण करना ही श्रेयस्कर है।

मंगल के पश्चात् अभिधेय कहना चाहिए। शास्त्र में जिस

विषय का प्रतिपादन किया गया हो उसका उल्लेख करना चाहिए। यहां अभिधेय बतलाने के लिए सूत्र के नामों की व्याख्या की जा चुकी है। नामों की व्याख्या से इस शास्त्र का विषय समझ में आ सकता है।

अभिधेय के अनन्तर प्रयोजन आता है। देखना चाहिए कि भगवतीसूत्र के अध्ययन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? यह बात भी नामों की व्याख्या से समझ में आ सकती है।

अच्छे-अच्छे कार्यों में बहुत विघ्न आते हैं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' यह कहावत प्रसिद्ध है। शास्त्र भी श्रेयस्कर है और इसका पठन-पाठन भी श्रेयस्कर कार्य है। इस श्रेयस्कर कार्य में विघ्न न आवें, इसी प्रयोजन से मंगल किया जाता है।

मंगल अनेक प्रकार के हैं। यथा--नाम मंगल, द्रव्यमंगल, भावमंगल आदि। इन अनेक विध मंगलों में से यहां भावमंगल ही उपादेय है, क्यों कि भावमंगल के अतिरिक्त अन्य मंगल एकान्त मंगल नहीं हैं। द्रव्यमंगल, स्थापना मंगल और नाममंगल भी मंगल तो कहलाते हैं किन्तु वे मंगल अमंगल भी हो जाते हैं। अतएव यह एकान्त मंगल नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह आत्यन्तिक मंगल भी नहीं है, क्यों कि प्रथम तो यह एक-दूसरे से घट-बढ़ कर हैं, दूसरे सदा के लिए अमंगल का अन्त नहीं करते।

दही और अक्षत आदि मंगल माने जाते हैं, मगर दही को अगर बीमार खा जाय और अक्षत सिरमें लगने के बदले आंख में पड़ जाएं तो क्या होगा? 'अमंगल रूप हो जाएँगे।'

जिस तलवार में शत्रु को काटने की शक्ति है वही तलवार यदि अपने ही गले पर फेर ली जाय तो क्या वह काटेगी नहीं? कुम्हार डंडे द्वारा चाक घुमाकर घड़ा बनाता है, अतः

डंडा घड़ा बनाने में सहायक है। लेकिन वही डंडा अगर घड़े पर पड़ जाय तो क्या घड़ा फूट नहीं जायगा? तात्पर्य यह है कि जो जोड़ते भी हैं और तोड़ते भी हैं, हानि भी पहुंचाते हैं और लाभ भी पहुंचाते हैं, उन्हें एकान्त मंगल नहीं कहा जा सकता।

संसार में जो अन्यान्य मंगल कार्य किये जाते हैं, वे सर्वथा निर्गुण या निष्फल हैं, यह कथन शास्त्र का नहीं है, लेकिन आशय यह है कि वे कार्य पूर्ण नहीं है, इसलिए एक ओर गुण करते हैं तो दूसरी ओर अवगुण भी करते हैं। ऐसी स्थिति में वे कार्य एकान्त गुण करने वाले नहीं कहे जा सकते।

वैश्य व्यापार करके अपनी आजीविका चलाते हैं, क्षत्रिय तलवार के बल पर राज्य करते हैं और शूद्र सेवा करके अपना गुजर करते हैं। सभी अपने-अपने धंधे को मंगल-रूप मानते हैं और किसी अंश में उनके अपने-अपने कार्य मंगल रूप हैं भी, परन्तु शास्त्र की दृष्टि में वे कार्य एकान्त रूप से मंगल नहीं हैं, क्यों कि इन कार्यों से एक पक्ष को अगर लाभ पहुंचता है तो दूसरे पक्ष को हानि भी पहुंचती है।

एक भाई ने सोचा-मैं किसी महात्मा का शरण लेकर लखपति बन जाऊँ। ऐसा सोच कर वह महात्मा के शरण में गया महात्मा ने मंगल देकर कहा जा इससे एक लाख रुपया कमा लेना। देखना चाहिए यह कैसा मंगल हुआ? वास्तव में महात्मा पुरुष किसी को लखपति बनाने के लिए मंगल नहीं देते। क्यों कि एक लाख रुपया कमाकर जब एक पुरुष लखपति बनेगा तो दूसरों के पास से उतना रुपया कम हो जायगा। एक का कमाना दूसरे का गँवाना है। ऐसी स्थिति में कमाने वाले का मंगल हुआ तो गँवाने वाले का अमंगल हुआ। प्रत्ये-

क का मंगल चाहने वाला महात्मा ऐसा नहीं कर सकता। वह तो एकान्त मंगल कारक ही होता है।

कहा जा सकता है कि अगर कोई व्यक्ति संग्राम के लिए या व्यापार के लिए जाता हो तो उसे मंगलपाठ (मांगलिक) सुनाना चाहिए या नहीं? इसका उत्तर यह है कि जब कभी भी कोई आराधक मांगलिक सुनने के लिए साधु की सेवा में उपस्थित हो तो उसे मांगलिक अवश्य सुनाना चाहिए। फिर भी पूर्वोक्त कथन में और इस कथन में विरोध नहीं है।

व्यापार के निमित्त जाने वाले को साधु मांगलिक सुनाते है सो इसलिए कि व्यापार के लिए जाने वाला द्रव्य धन के प्रलोभन में भावधन को न भूल जावे। संसार में अनुरक्त गृहस्थ सांसारिक भोगोपभोग के साधन भूत पदार्थों के उपार्जन और संरक्षण में कभी-कभी इतना व्यस्त हो जाता है कि वह आत्म कल्याण के सच्चे साधनों को भूल जाता है। उसे भोगोप भोग के साधन ही मंगल कारक शरणभूत और उत्तम प्रतीत होते हैं। ऐसे लोगों पर अनुग्रह करके उन्हे वास्तविकता का भान कराना साधुओं का कर्तव्य है। अतएव साधु, मांगलिक श्रवण कराकर उसे सावधान करते हैं कि * हे भद्र पुरुष! तू इतना याद रखना कि संसार में चार महा मंगल हैं-अरिहंत, सिद्ध, साधु और सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म।

---

* चत्तारि मंगलं-अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवली पएणत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवली पएणत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पवज्जामि अरिहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलिपएणत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

मंगलपाठ का यह अर्द्ध मागधी भाषा का पाठ है।

संसार में चार सर्व श्रेष्ठ पद हैं-अरिहंत, सिद्ध, साधु और दयामय धर्म। (अतएव तू अपने मन में संकल्प कर कि) मैं अरिहंत का शरण ग्रहण करता हूँ. मैं सिद्ध का शरण ग्रहण करता हूँ, मैं सन्त पुरुषों का शरण ग्रहण करता हूँ, मैं सर्वज्ञ के धर्म का शरण ग्रहण करता हूँ।

उपर्युक्त महामंगल पाठ प्रत्येक अवस्था में सुनाने योग्य है। अगर कोई पुरुष किसी शुभ कार्य के लिए जाते समय मंगल श्रवण करना चाहे तब तो कोई बात ही नहीं; अगर कोई अशुभ कार्य के लिए जाते समय भी मंगल पाठ श्रवण करना चाहे तो उसे भी साधु यह पाठ सुनाने से इंकार नहीं करेंगे। मंगल-पाठ एक ऐसी लोकोत्तर भाव-औषध है जो निरोग को भी लाभ पहुँचाती है और रोगी को भी विशेष लाभ पहुँचाती है। अतएव प्रत्येक पुरुष उसका पात्र है, बल्कि रोगी और अधिक उपयुक्त पात्र है। भला, देव, गुरु और धर्म का स्मरण कराना अनुचित कैसे कहा जा सकता है?

जिसका जो अधिकार है वह उतना ही कर सकता है। साधुगण द्रव्य से उन्मुक्त हो चुके हैं। वे भाव के आराधक हैं। इस दशा में वे भाव मंगल ही कर सकते हैं। अतएव व्यापार के निमित्त जाने वाले को मांगलिक सुनाकर वे कहते हैं कि द्रव्य मंगल के सामने भाव-मंगल को मत विसर जाना इसी प्रकार संग्राम में जूझने के लिए जाने वाले को सावधान करते हैं कि देखना, संग्राम में भी धर्म को मत भूलना।

यह भाव मंगल नौका के समान है। जिसकी इच्छा हो, नौका पर आरूढ़ हो; जो आरूढ होगा उसे वह पार लगा देगी। भाव मंगल के विधान में भी यही बात है। इसे सुनकर न्यायोचित व्यापार करने वाला अपने धर्म पर स्थिर रहेगा और अन्याय करेगा तो अधर्म की सरिता में डूबेगा।

साधु विवाह के अवसर पर भी मांगलिक सुनाते है। वह इसलिए कि सुनने वालों को यह ज्ञान हो जाय कि विवाह बंधन के लिए नहीं है। विवाह गृहस्थी में रहने वालों को पारस्परिक धर्म संबंधी सहायता आदान-प्रदान करने के लिए होता है, धर्म का ध्वंस करने के लिए नहीं; बंधनों की परम्परा बढ़ाने के लिए भी नहीं। इस प्रकार साधु भाव मंगल सुनाते हैं जो सब के लिए, सदा काल, सब प्रकार से सम्पूर्ण कल्याण का कारण है, जिसमें अकल्याण का कण मात्र भी नहीं होता।

विवाह के पश्चात् स्त्री और पुरुष के मिल कर चार पैर और चार हाथ हो जाते हैं। चार पैर वाला चौपाया होता है और चार हाथ वाला देवता होता है। साधु विवाह के अवसर पर मांगलिक सुना कर यह शिक्षा देते हैं कि विवाह करके चौपाया-पशु मत बनना, मगर चतुर्भुज देवता-बनना।

सारांश यह है कि साधु भाव मंगल सुनाते हैं, द्रव्य मंगल नहीं। जिस मंगल से एक को लाभ या सुख हो और दूसरे को हानि या दुख हो, वह द्रव्य मंगल है। द्रव्य मंगल के द्वारा होने वाला एक का लाभ या सुख भी निखालिस नहीं होता। उसमें हानि एवं दुख का सम्मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य-मंगल अल्पकालीन होता है और उसकी मांगलिकता की मात्रा भी अधिक नहीं होती। सच्चा मंगल वह है जिसमें अमंगल को लेशमात्र भी अवकाश न हो और जिस मंगल के पश्चात् अमंगल प्रकट न होता हो और साथ ही जिससे सब का समान रूप से कल्याण-साधन हो सकता हो, जिसके निमित्त से किसी को हानि या दुख न पहुँचे। ऐसा सच्चा मंगल भाव मंगल ही है। अतएव यहां शास्त्र की आदि में भाव मंगल ही उपादेय है।

भाव मंगल के स्तुति मंगल, नमस्कार मंगल आदि अनेक

प्रकार हैं ।-ज्ञान मंगल, दर्शन मंगल, चारित्र मंगल और तप मंगल भी भाव मंगल के ही भेद हैं। इन अनेक विध भाव मंगलों में से यहां शास्त्र के आरंभ में पंच परमेष्ठी भगवान् को नमस्कार रूप भाव मंगल किया गया है । क्योंकि भाव मंगल के अन्तर्गत आये हुए दूसरे मंगलों की अपेक्षा पंच परमेष्ठी-नमस्कार मंगल में दो विशेषताएँ हैं-प्रथम यह कि यह नमस्कार मंगल लोक में उत्तम है और दूसरी यह कि देवराज इन्द्र भी इसका शरण लेता है।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

यह शास्त्र वाक्य है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, इन पंच परमेष्ठी को किया हुआ नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला है। पाप ही विघ्न या विघ्न के कारण हैं। पाप का नाश होने पर विघ्न नहीं रहते। यह नमस्कार मंगल, अन्य सब मंगलों से प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ है।

समस्त शास्त्रों को नमस्कार मंत्र जप कर पढ़ा जाय तो विघ्नों का नाश हो जाता है। इसी कारण शास्त्र के आरम्भ में नमस्कार मंत्र द्वारा मंगलाचरण किया गया है।

नमस्कार मंत्र (णमोकार मंत्र) का वर्णन किस शास्त्र में आया है ? यह मंत्र मूलतः कहां से आया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि णमोकार मंत्र सभी शास्त्रों में ओत प्रोत है। सभी शास्त्रों में, किसी न किसी रूप में, इस मंत्र का अस्तित्व विद्यमान है । यह चौदह पूर्वों का सार माना जाता है। भले अक्षरशः यह मंत्र किसी शास्त्र में न पाया जाय, मगर प्रत्येक शास्त्र के पठन में सर्वप्रथम यह मंत्र पढ़ा जाता है। तदनुसार यहां भी शास्त्र की आदि में पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्थात्ः—अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो, सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो, आचार्य महाराज को नमस्कार हो, उपाध्याय महाराज को नमस्कार हो, लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

मंगलाचरण का विवरण

'णमो अरिहंताणं' का विवेचन

इस शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के रूप में जो नमस्कार मंत्र दिया गया है, उस पर कुछ विस्तार से विवेचन करना उपयोगी प्रतीत होता है। यह मंत्र सर्व-साधारण जैन जनता में अत्यन्त प्रसिद्ध है। शायद ही कोई जैन ऐसा होगा जो दिन-रात में एक वार भी इस मंत्र का जाप न करता हो। जैन धर्म के अनुयायी सभी सम्प्रदाय समान भाव से इस पवित्र मंत्र का श्रद्धा-भक्ति के साथ स्मरण करते हैं। अतएव स्पष्टतापूर्वक इस मंत्र का भाव समझाना आवश्यक है।

'णमो अरिहंताणं' यह एक वाक्य है। इस वाक्य में दो पद हैं—(१) 'णमो' और (२) 'अरिहंताणं'।

शास्त्रकारों ने पांच प्रकार के शब्द बतलाये हैं—(१) नाम शब्द (२) निपात शब्द (३) आख्यात शब्द (४) उपसर्ग-शब्द (५) मिश्र शब्द। इन पांचों प्रकार के शब्दों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) नाम शब्द—यथा—घोड़ा, हाथी आदि।
(२) निपात शब्द— खलु, किल आदि।
(३) आख्यात शब्द— भवति, धावति आदि क्रिया-

शब्द।

(४) उपसर्ग शब्द— प्र, परा, अभि आदि।

(५) मिश्र शब्द— सम्राट, संयत आदि।

इन पांच प्रकार के शब्दों में से 'नमः' (णमो) निपात शब्द है। अर्थात् इस शब्द में न कोई विभक्ति लगी है, न प्रत्यय ही, यह किसी धातु से निष्पन्न नहीं हुआ है। यह स्वतः सिद्ध रूप है।

'नमः' पद का अर्थ है—द्रव्य एवं भाव से संकोच करना। यहां नमः का यही अर्थ--द्रव्य-भाव से संकोच करना लिया गया है। अर्थात् द्रव्य से हाथ, पैर और मस्तक रूप पांचों अंगों को संकोच कर नमस्कार करता हूं और भाव से, आत्मा को अप्रशस्त परिणति से पृथक् करके अरिहंत भगवान् के गुणों में लीन करता हूं।

यह नमः शब्द का अर्थ हुआ। अब 'अरिहंताणं' पद का अर्थ क्या है, यह देखना चाहिए। भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करने वाले 'अरिहंत' शब्द के अनेक रूपान्तर होते हैं। यथा- अर्हन्त, अरहोन्तर, अरथान्त, अरहन्त, अरहयत्, अरिहन्त, अरुहन्त आदि। इन रूपान्तरों में अर्थ का जो भेद है वह आगे यथास्थान प्रकट किया जायगा।

'अर्हन्त' शब्द 'अर्ह-पूजायां' धातु से बना है। अत एव अर्हन्त शब्द का अर्थ है--पूजनीय, पूज्य या पूजा करने योग्य। इस प्रकार 'णमो अरहंताणं-नमोऽर्हद्भ्यः' का अर्थ हुआ जो पूजनीय हैं उन्हें नमस्कार करता हूं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि लोक में पूज्य मानने के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है। पुत्र के लिए पिता पूज्य माना जाता है, माता पूज्य मानी जाती है, अन्य गुरुजन पूज्य माने जाते हैं। अगर पूज्य को ही अर्हन्त कहा

जाय तो क्या माता-पिता आदि भी अर्हन्त हैं ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यहां इस प्रकार की साधारण लोक-रूढ़ पूज्यता नहीं समझनी चाहिए । लोक रूढ़ि का कोई नियम नहीं है । लोक में अनेक पुरुष कुत्ते को भी पूज्य मान लेते हैं। अर्हन्त वह पूज्य पुरुष हैं जो लोक में पूज्य माने जाने वाले इन्द्र के द्वारा भी पूजनीय हैं । अष्ट महाप्रातिहार्यों की रचना होनेपर देवों का प्रधान इन्द्र भी जिनकी पूजा करता है । ऐसी दिव्य महापूजा के योग्य महाभाग अर्हन्त ही हैं । अन्य नहीं ।

शास्त्र कहते हैं कि जो वन्दना-नमस्कार के योग्य हो उसे अर्हन्त कहते हैं । जिसके समस्त स्वाभाविक-गुण प्रकट हो गये हो, जो देवों द्वारा भी पूज्य हो, लोकोत्तर गति में जाने के योग्य हो, वह अर्हन्त है ।

अथवा--' रह ' का अर्थ है गुप्त वस्तु-छिपी हुई बात। जिनसे कोई बात छिपी नहीं है, सर्वज्ञ होने के कारण जो समस्त पदार्थों को हथेली की भांति स्पष्ट रूप से जानते-देखते हैं, वह ' अरहोन्तर ' कहलाते हैं । उन्हें मैं द्रव्य-भाव से नमस्कार करता हूं ।

अथवा--' अरहंत ' पद का संस्कृत भाषा में 'अरथान्त' ऐसा रूप बनता है । रथ लोक में प्रसिद्ध है । यहां ' रथ ' शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का उपलक्षण है । अर्थात् रथ शब्द से परिग्रह मात्र का अर्थ समझना चाहिए। ' अन्त ' शब्द विनाश का वाचक है। इस प्रकार ' अरथान्त ' का अर्थ हुआ-समस्त प्रकार के परिग्रह से और विनाश से जो अतीत हो चुके हैं । अतः ' अरहंताणं ' अर्थात् ' अरथान्तेभ्यः ' परिग्रह और मृत्युसे रहित भगवान् को, नमः—नमस्कार हो।

अथवा—' अरहन्त ' पद का अर्थ है—आसक्ति से

रहित । जिन्होंने मोहनीय कर्म को समूल नष्ट करदिया है, इस कारण जो मोह--आसक्ति--राग से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, उन अरहन्त भगवान् को नमस्कार हो ।

अथवा-'अरहंत' का एक रूपान्तर 'अरहयत्' भी होता है। इसका अर्थ इस प्रकार है—तीव्र राग के कारण भूत मनोहर विषयों का संसर्ग होने पर भी-अष्ट महाप्रातिहार्य आदि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी जो परम वीतराग होने के कारण किंचित् मात्र भी राग को प्राप्त नहीं होते, उन्हें नमस्कार हो।

अरहन्त पद का एक रूपान्तर 'अरिहन्त' है । अरि का अर्थ है शत्रु। उनका जिन्होंने नाश कर दिया हो वह अरिहन्त कहलाते हैं। आत्मा के असली शत्रु आत्मिक विकार या आठ प्रकार के कर्म है। जो सत्यशाली महापुरुष विशिष्ट साधन के द्वारा उन कर्मों का नाश कर डालते हैं उन्हें अरिहन्त कहते हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो। कहा भी है—

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं ।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्थात् आठ प्रकार के कर्म संसार के समस्त जीवों के अरि (शत्रु) हैं। जो उन कर्म-शत्रुओं का नाश कर देता है वही अरिहन्त कहलाता है ।

जो जिसकी स्वतंत्रता का अपहरण करके उसे अपने अधीन बना लेता है, और उसको इच्छा के अनुसार काम नहीं करने देता, वरन् विवश करके जो अपनी इच्छाएँ उस पर लादता है वह उसका शत्रु कहलाता है। शत्रु अपनी शक्ति से काम कराता है। जिसे काम करना है, उसकी अपनी शक्ति लुप्त-हो जाती है। व्यवहार में देखा जाता है कि शत्रु, इच्छा-

नुसार कार्य नहीं करने देता और अनिच्छनीय कार्यों के लिए विवश करता है।

बाह्य वैरियों के समान आन्तरिक वैरी कर्म है। आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को, जिसके द्वारा संसार के समस्त पदार्थ जाने जाते हैं, जो कर्म हरण करता है, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म ने आत्मा की उस ज्ञान शक्ति को दबा दिया है। जिस प्रकार बादलों के कारण सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश रूक जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ने आत्मा की सब कुछ जान सकने वाली ज्ञान शक्ति को रोक रक्खा है। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान शाली है। जगत् का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो आत्मा की ज्ञान शक्ति द्वारा जानने योग्य न हो, मगर ज्ञानावरण कर्म ने उस शक्ति को दबा कर क्षुद्र और सीमित कर दिया है उसके स्वभाविक परिणमन को विकृत कर दिया है।

इसी प्रकार दर्शन की शक्ति को-देखने के सामर्थ्य को रोकने वाला, सीमित कर देने वाला कर्म दर्शनावरण कहलाता है।

आत्मा स्वभावतः परमानन्दमय है। अनन्त सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है। लेकिन आत्मा के इस परम सुख मय स्वभाव को वेदनीय कर्म ने दबा रक्खा है। इस कर्म के कारण आत्मा दुख रूप वैषयिक सुख में ही सच्चे सुख की कल्पना करता है। इसी कर्म के निमित्त से आत्मा नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है।

हम अविनाशी हैं और अनेक अनुपम गुणों के आगर हैं, इस तथ्य की प्रतीति मोहनीय कर्म ने रोक दी है। मोहनीय कर्म के प्रभाव से हम दैहिक सुख को आत्मिक सुख और दैहिक दुख को आत्मिक दुख मान रहे हैं। इस प्रकार मोहनीय

कर्म उल्टी प्रतीति कराता है, जिससे अरिहन्त का विवेचन को भूलकर अवास्तविक बात को मान रहा है।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है। जन्म-मरण उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। मगर आयुकर्म के प्रभाव से उसे जन्म-मरण करने पड़ते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने किराये के मकान को छोड़ना नहीं चाहता, फिर भी किराये का पैसा पास में न होने से मकान छोड़ना पड़ता है, इसी प्रकार आत्मा जन्म-मरण के स्वभाव वाला न होने पर भी आयु कर्म की प्रेरणा से विवश होकर जन्म-मरण करता है।

आत्मा का चैतन्य नाम-रूप है। इसका नाम अनन्त भी है, किन्तु नाम कर्म, आत्मा के इस नाम को छुड़ाकर नीच नाम—जैसे झाड़, पशु आदि—को प्राप्त करवाता है। आत्मा चैतन्य नाम-वाला एवं निर्विकार है। इसके झाड़, कीड़ा आदि नाम, नामकर्म के प्रभाव से उसी प्रकार हुए हैं जैसे एक ही रंग के कई चित्र बनाने पर किसी का नाम घोड़ा, किसी का नाम राजा और किसी का नाम हाथी आदि हो जाता है।

जिसके प्रभाव से आत्मा ऊंच-नीच गोत्र में पड़ता है वह गोत्र कर्म कहलाता है। उदाहरणार्थ—एक ही प्रकार के सोने से एक मस्तक का आभूषण बनाया जाता है, दूसरा पैर का। सिर का आभूषण उत्तम माना जाता है, पैर का उत्तम नहीं माना जाता। इसी प्रकार यह निर्विकार आत्मा गोत्र कर्म के प्रभाव से ऐसे गोत्रों में जन्म लेता है जो लोक में उच्च या नीच कहलाते हैं। इस प्रकार आत्मा की ऊंच-नीच अवस्था कर्म के ही प्रभाव से है। आत्मा स्वभाव से इन समस्त विकल्पों से अतीत और अनिर्वचनीय है।

अन्तराय का अर्थ है विघ्न या बाधा। अन्तराय दो प्रकार का है—(१) द्रव्य रूप में विघ्नबाधा होना और (२) भाव

रूप से—अन्तरंग आनन्द में बाधा पड़ना। जो कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति को प्राप्त करने में बाधक होता है, वह अन्तराय कर्म कहलाता है।

इन आठ कर्मों ने अनादि काल से आत्मा को प्रभावित कर रक्खा है। इनके कारण आत्मा अपने स्वरूप से च्युत होकर नाना प्रकार की विभाव परिणति के अधीन हो रहा है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा को क्या करना चाहिए? कर्मों से 'आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति का उपाय क्या है? अगर पहले बंधे हुए कर्म ही भोगे जाते हों तब तो किसी समय सहज ही उनका अन्त आ सकता है, परन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा पूर्व बद्ध कर्मों को भोगते-भोगते उसी समय नये कर्म बांध लेता है और जब उन्हें भोगने का अवसर आता है तब फिर नवीन कर्म बँध जाते हैं। इस प्रकार बन्ध का प्रवाह निरन्तर जारी रहता है। ऐसी स्थिति में कर्मों का आत्यन्तिक विनाश किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर अरिहंत भगवान् को किये जाने वाले नमस्कार के मर्म में निहित है। अरिहंत भगवान् ने कर्मों का समूल क्षय करने के लिये जिस विधि का अवलम्बन किया है उसी विधि का अवलम्बन करने से भव्य जीव निष्कर्म बन सकता है।

पूर्वबद्ध कर्म यदि अच्छे (शुभ) भाव से भोगे जाते है तो नवीन अच्छे कर्मों का बंध होता है बुरे भाव से भोगे जाते है तो बुरे कर्म बँधते हैं और यदि राग द्वेष रहित भाव से भोगे जाते हैं तो फिर कर्म बँधते ही नहीं हैं। इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मों को वीतराग भाव से भोगना नवीन कर्मबंध से बचने का उपाय है।

ज्ञानी पुरुषों की विचारणा निराली होती है। जब उन पर

किसी प्रकार का कष्ट आकर पड़ता है, अनुकूल परिस्थिति से सुख की प्राप्ति होती है अथवा जब उनके देखने सुनने से बाधा उपस्थित होती है तब वे विचार करते है—'यह तो प्रकृति की क्रीड़ा है। इन सब बातों से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है। मैं इन सब भावों से निराला हूँ। मेरा स्वरूप सब से विलक्षण है। मुझे इनसे क्या सरोकार ? और मैं इन सब के विषय में राग-द्वेष का भाव क्यों धारण करूँ ?

ज्ञानियों की इस विचारणा का अनुसरण करके जो कर्म-भोगने के समय अच्छा या बुरा भाव अपने हृदय में अंकुरित नहीं होने देता, वरन् वीतराग बना रहता है वह कर्मों का सर्वथा नाश करने में समर्थ होता है। यही कर्म क्षय का राजमार्ग है।

इस प्रकार जिसका अन्तः करण वीतराग भाव से विभूषित है उस महापुरुष को मारने के लिए यदि कोई शत्रु तलवार लेकर आवेगा तो भी वह यही विचारेगा कि मैं मरने वाला नहीं हूँ। जो मरता है या, मर सकता है वह मैं नहीं हूँ। मैं वह हूँ जो मरता नहीं और मर सकता भी नहीं। सच्चिदानन्द-अमूर्तिक और अदृश्य मेरा स्वरूप है। मुझे मारने का सामर्थ्य साधारण पुरुष की तो बात ही क्या, इन्द्र में भी नहीं है। इसी प्रकार मारने वाला भी मैं नहीं हूँ। मरने वाला शरीर है मारने वाली तलवार है। दोनों ही जड़ है। जड़ जड़ को काटता है। इसमें मेरा क्या बिगड़ता है ? मैं द्वेष भाव धारण कर के अपना अमंगल आप ही क्यों करूँ ?

तलवार से कटते समय भी अगर शत्रुता का भाव उदित होता है तो नवीन कर्म बँधे बिना नहीं रहते। यद्यपि पूर्व बद्ध कर्म चुकते हैं तथापि नये कर्म बँधते भी हैं। अगर तलवार से कटते समय यह विचार आया कि मारने वाला

और मरने वाला मैं नहीं हूँ और उस समय निर्विकार अवस्था रही तो नूतन कर्म का बँध नहीं होता।

कल्पना कीजिए एक व्यापारी ने किसी साहूकार के यहाँ अपना खाता डाला। वह एक हजार रुपया ऋण ले गया। थोड़े दिनों के पश्चात् वह एक हजार रुपया दे गया और दो हजार नये ले गया। ऐसा करने से उसका खाता चलता ही रहेगा। इसके विरुद्ध अगर वह जमा कराता रहे और नया कर्ज़ न ले तो उसका खाता चुक जायगा। इसी प्रकार पूर्व-बद्ध कर्म समभाव से भोगे, अच्छे या बुरे विचार न लावे तो किसी समय कर्म शत्रु का नाश हो जायगा।

आस्रव. संवर और निर्जरा के भेद से कर्मों का स्वरूप प्रकारान्तर से भी कहा जाता है मगर विस्तारभय से और समय की कमी के कारण यहाँ उसे छोड़ दिया जाता है।

आचार्य कहते हैं—इस प्रकार के कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले अरिहंत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ एक बात विशेष महत्वपूर्ण है। नमस्कार करते समय किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं लिया गया है, अपितु अमुक प्रकार के गुणों से युक्त भगवान् को नमस्कार किया गया है। 'यह विशाल दृष्टि कोण एवं माध्यस्थभाव का ज्वलंत प्रमाण है। यह निष्पक्ष भावना कितनी प्रशंसनीय है? चाहे जो हो, जिस ने कर्म शत्रु का अत्यन्त विनाश कर दिया है, वही अरिहंत है और वही वन्दनीय है; वही पूजनीय है।

कोई भी वस्तु अगर नमूने के अनुसार हो तो उसमें झगड़े की गुंजाइश नहीं है। नमूने के अनुसार न होने पर ही झगड़ा उत्पन्न होता है। इसी कारण आचार्य ने कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले को अरिहंत और वंद्य कहा है। जिसमें विकार विद्यमान हैं वह माननीय या वन्दनीय नहीं है और

जो विकारों के ... विमुक्त हो चुका है, वह कोई भी क्यों न हो, वन्दनीय है।

अगर अरिहंत ने अपने कर्मों का अत्यन्त अन्त कर दिया है और अपनी आत्मा को एकान्त निर्मल बना लिया है, तो उन्होंने अपना ही कल्याण साधन किया है। उन्होंने कर्मों का नाश किया है, यह देख कर हम उन्हें क्यों नमस्कार करें?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्त, भगवान् पर अहसान करके उन्हें नमस्कार नहीं करता। भगवान् को नमस्कार करने में भक्त का महान् मंगल है। उस मंगल की उपलब्धि के लिए ही भक्त भक्तिभाव से प्रेरित होकर भगवान् के चरणों में अपने आपको अर्पित कर देता है।

संसार नाना प्रकार की पीड़ा से पीड़ित है। उसे कोई शान्तिदाता नहीं मिला है। कर्म हमें बुरी तरह नचा रहे हैं, असह्य यातनाओं का पात्र बना रहे हैं और अरिहन्त भगवान् ने उन कर्मों का समूल विनाश करदिया है। कर्मों की इस व्याधि से छुटकारा दिलाने वाले महावैद्य वही हो सकते हैं जिन्होंने स्वयं इस व्याधि से मुक्ति पाई है और अनन्त आरोग्य प्राप्त कर लिया है। अरिहंत भगवान् ही ऐसे हैं। हम कर्म की व्याधि से किस प्रकार छूट सकते हैं--कर्मों का अन्त किस प्रकार होना संभव है, यह बात अरिहंत भगवान् ही हमें बता सकते हैं। उन्होंने सर्वज्ञता-लाभ करके वह मार्ग प्रकाशित भी किया है। इसी कारण अरिहंत भगवान् हमारे नमस्कार के पात्र हैं वही शान्तिदाता हैं।

पहले 'अरहंताणं' का एक रूपान्तर 'अरुहद्भ्यः' बतलाया जा चुका है। 'अरुहद्भ्यः' का अर्थ है 'रुह्' का नाश करने वाले। 'रुह्' धातु का संस्कृत भाषा में अर्थ है-सन्तान अर्थात् परम्परा। जैसे बीज और अंकुर की परम्परा

होती है। बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है, इस प्रकार बीज और अंकुर की परम्परा चलती रहती है। अगर बीज को जलादिया जाय तो फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार जिन्होंने कर्म रूपी बीज को भस्म करदिया है--नष्ट करदिया है और इस कारण जिसका फिर कभी जन्म नहीं होता, अर्थात् कर्म--बीज का आत्यन्तिक विनाश कर देने वाले (अरहंत) को मैं नमस्कार करता हूं।

किसी ने ठीक ही कहा है—

> दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
> कर्मबीजे तथा दग्धे, न प्ररोहति भवांकुरः॥

जिस बीज को आत्यन्तिक रूप से जला दिया जाता है, उसे चाहे जैसी कमाई हुई भूमि में बोया जाय, उस से अंकुर नहीं उग सकता। इसी प्रकार कर्म-बीज को एक बार पूर्ण-रूपेण भस्म कर देनेपर पुनर्जन्म रूपी अंकुर नहीं उग सकता।

कई लोगों का कहना है कि जिस कर्म के साथ आत्मा का अनादिकाल से संबंध है, वह कर्म नष्ट कैसे हो जाते हैं? मगर बीज और अंकुर का संबंध भी अनादिकाल का है। फिर भी बीज को जला देने से उनकी परम्परा का अन्त हो जाता है। इसी प्रकार कर्म की परम्परा का भी अन्त हो सकता है। जिस प्रकार प्रत्येक अंकुर और प्रत्येक बीज सादि ही है फिर भी दोनों के कार्य--कारण का प्रवाह अनादि है, इसी प्रकार प्रत्येक कर्म सादि है तथापि उसका कर्म के साथ कार्य-कारण का संबंध अनादि है।

यह शंका भी उचित नहीं है कि जैसे अंकुर के जला देने पर बीज का अभाव हो जाता है, उसी प्रकार कर्म का नाश

ने पर आत्मा का भी नाश क्यों नहीं हो जायगा? बीज और अंकुर तथा आत्मा और कर्म के संबंध में पर्याप्त अन्तर है। बीज और अंकुर में उपादान-उपादेयभाव संबंध है, जब कि आत्मा और कर्म में मात्र संयोग संबंध है। जैसे बीज और अंकुर का स्वरूप मूलतः एक है, वैसे आत्मा और कर्म का स्वरूप एक नहीं है। दोनों का स्वरूप एक नहीं है। दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। जीव चैतन्य रूप है, कर्म जड़ है। जीव और कर्म को प्रायः सभी चैतन्य और जड़ रूप मानते हैं। जलाने पर जड़ ही जल सकता है। चेतन नहीं जल सकता। दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं। गीता में कहा है—'नैनं दहति पावकः' अर्थात् आत्मा को अग्नि जला नहीं सकती।

इस संबंध में एक बात और भी कही जा सकती है। वह यह कि जैसे बीज और अंकुर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मा और कर्म एक दूसरे से उत्पन्न नहीं होते। बीज अंकुर की परम्परा के समान कर्मों की—द्रव्य कर्म और भाव कर्म की ही परम्परा यहां अनादिकालीन बताई गई है। अतः द्रव्य कर्मों का सर्वथा क्षय होने पर भाव कर्मों का और भाव कर्मों के क्षय होने पर द्रव्य कर्मों का क्षय हो जाता है। आत्मा अविनाशी होने के कारण विद्यमान रहता है बल्कि शुद्ध स्वरूप में आ जाता है। कर्म का नाश होने से आत्मा की अशुद्धता का ही नाश होता है।

नमस्कार के विषय में कहा जा सकता है कि अरिहन्त को नमस्कार करने से क्या लाभ है? अरिहन्त भगवान् वीतराग हैं। वह न तुष्ट होते हैं, न रुष्ट होते हैं। हमें उनकी छाया भी कभी मिलती नहीं है। फिर नमस्कार करना वृथा क्यों नहीं है?

भगवान् को नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस विषय

में[illegible] हैं—आत्मा संसार रूपी वन में भटकते भय-भीत हो गया है। ऐसे आत्मा को मार्ग बताने वाला कौन है, जिससे वह भव-वन से बाहर निकल सके। जिसने उस वन को पार नहीं किया है, जो स्वयमेव उसी वन में भटक रहा है अर्थात् जिसने कर्म शत्रु को नहीं जीता है, वह उस मार्ग के विषय में क्या जानेगा? उद्धार की आशा उससे कैसे की जा सकती है? जिसने स्वयं उस वन को पार किया हो शुद्ध आत्मपद की प्राप्ति कर ली हो, वही उस वन से निकालने के लिए तथा मोक्ष रूपी नगरी का मार्ग बताने के लिए सुयोग्य पथ-प्रदर्शक हो सकता है। अरिहन्त भगवान् में ऐसी विशेषता है। उन्होंने भव-कान्तार को पार किया है, अतएव वही नमस्कार करने योग्य हैं।

कर्म, कर्त्ता के किये हुए होते हैं। कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वही कर्म कहलाता है। मतलब यह है कि कर्म तुम्हारे बनाये हुए हैं, कर्मों के बनाये तुम नहीं हो। जो बनता है वह गुलाम है और जो बनाता है वह मालिक है। अरिहंत भगवान् ने हमें बतलाया है—कि तुम इतने कायर क्यों हो रहे हो कि अपने बनाये हुए कर्मों से आप ही भयभीत होते हो? कर्म तुम्हारे खेल के खिलौने हैं। तुम कर्मों के खिलौने नहीं हो। इस प्रकार कर्मों के अन्त का मार्ग बतलाने के कारण अरिहंत भगवान् नमस्कार करने योग्य हैं।

नमस्कार दो प्रकार का है—एक तो अपना सांसारिक स्वार्थ साधने के लिए नमस्कार करना, दूसरे वीर क्षत्रिय की भांति नमस्कार करना अर्थात् या तो नमस्कार करे नहीं, अगर करले तो फिर कोई भी वस्तु उससे अधिक समझे नहीं।

कहा जाता है कि राणा प्रताप के लिए अकबर बादशाह ने अपने राज्य का छठा भाग देना स्वीकार किया था, अगर

राणा एक बार बादशाह के सामने जाकर उसे नमस्कार कर ले। इस प्रलोभन के उत्तर में राणा ने कहा था 'जहां मुझे दोनों पैर जमा कर खड़े रहने की जगह मिलेगी, वहीं मेरा राज्य है। नमस्कार करने का अर्थ अपना सर्वस्व समर्पण कर देना है। अगर मैंने बादशाह को नमस्कार किया तो मैं स्वयं बादशाह का बन जाऊँगा, फिर उसके राज्य का छठा भाग या चौथाई भाग भी लेकर क्या करूँगा? राज्य के लोभ के सामने राणा का मस्तक नहीं झुक सकता।'

महाराणा प्रताप ने अपनी टेक रखने के लिए अनगिनती कष्ट सहन किये, पर हृदय में दीनता नहीं आने दी। बादशाह के सामने उनका मस्तक तो क्या, शरीर का एक रोम भी नहीं झुका। यों तो राणा अपने अभीष्ट देवता और अपने गुरु को नमस्कार करते ही होंगे, लेकिन लोभ के आगे उनका मस्तक नहीं झुका।

सारांश यह है कि प्रथम तो वीर पुरुष सहसा किसी को नमस्कार नहीं करते, और जब एक बार कर लेते हैं तो नमस्करणीय व्यक्ति से फिर किसी प्रकार का दुराव नहीं रखते। फिर वे पूर्ण रूप से उसी के हो जाते हैं। उसके लिए सर्वस्व समर्पण करने में कभी पश्चात्पद नहीं होते।

'श्रोतागण! क्या आप अर्हन्त भगवान् को नमस्कार करते हैं?

'जी हां!'

लेकिन यदि नमस्कार करके भी दुर्भाव बना रहा तो क्या कहा जायगा? जिसे नमस्कार किया है वह बड़ा है। उस बड़े को अगर सच्चे हृदय से नमस्कार किया है तो उसके लिए-उसके आदर्श के लिए, सिर दे देना भी कोई मुश्किल बात नहीं होनी चाहिए।

अगर कोई आपका सिर काटने के लिए आवे तो अरिहंत से आपका भाव तो नहीं पलटेगा ? अगर कष्ट आने पर आपने अरिहंत भगवान् की ओर से अपना भाव पलट लिया तो समझ लीजिए अभी आपके नमस्कार में कमी है।

मान लीजिए एक आदमी आपकी दुकान पर आया। आपने उस आदमी को नमस्कार करके बिठाया। उस आदमी ने आपकी पेटी में एक रत्न देखा और उसे लेना चाहा। अब आप यदि यह कहते हैं कि मैंने देने के लिए आपको नमस्कार नहीं किया है। मेरे नमस्कार करने का उद्देश्य यह है कि आप मेरी दुकान पर आये हैं तो मुझे कुछ दे जावें। अगर आप यह कहते हैं तो मानना चाहिए कि आपका नमस्कार करना दिखावटी था—सिर्फ लोक व्यवहार था, सच्चे हृदय में उत्पन्न होने वाली समर्पण की भावना का प्रतीक नहीं था। जिसे नमस्कार किया है, उसके लिए अपना सिर भी दे देने के लिए तैयार हो जाना सच्चा नमस्कार है।

देव कामदेव श्रावक के विरुद्ध तलवार लेकर आया था। उसने कामदेव को निर्ग्रंथ-धर्म को त्याग देने का आदेश दिया था। ऐसा न करने पर उसने घोर से घोर कष्ट पहुंचाने की धमकी दी थी। मगर कामदेव श्रावक उस देव से भयभीत हुआ था ? उसने यही कहा कि यह तन तुच्छ है और प्रभु का धर्म महान् है। यह तुच्छ शरीर भी टिकाऊ नहीं है। एक दिन नष्ट हो जायगा। सो यदि यह शरीर धर्म के लिए नष्ट होता है तो इससे अधिक सद्भाग्य की बात और क्या होगी ?

अरणक श्रावक का कोई अपराध नहीं था। फिर भी देव उससे यह कहता था कि तू अर्हन्त की भक्ति छोड़ दे, अन्यथा तेरा जहाज डुबा दूंगा। मगर प्रणवीर अरणक ने कहा—

'जहाज चाहे डूबे, मगर धर्म नहीं छोड़ सकता।'

कई लोग अपनी ज़िद को ही धर्म मान लेते हैं। उसके विषय में यह बात नहीं है। मगर अर्हन्त के जो गुण पहले बतलाये गये हैं, उन गुणों से युक्त भगवान् ने जिस धर्म का निरूपण किया है, जो धर्म शुद्ध हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा के अनुकूल है और साथ ही युक्ति एवं तर्क से बाधित नहीं होता, तथा जिससे व्यक्ति और समष्टि का एकान्त मंगल-साधन ही होता है उस धर्म को न त्यागने में ही कल्याण है।

णमो सिद्धाणं का विवेचन

प्रकृत शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के प्रथम पद का विवेचन किया जा चुका है। उसके पश्चात् द्वितीय पद 'णमो सिद्धाणं' है। णमो सिद्धाणं का अर्थ है—सिद्धों को नमस्कार हो।

'नमः' शब्द का अर्थ पहले बतलाया जा का है। केवल 'सिद्ध' पद की व्याख्या करना शेष है।

अष्ट कर्म रूपी ईंधन को जिन्होंने शुक्ल ध्यान रूपी जाज्वल्यमान अग्नि से भस्म करदिया है उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्ध पद की यह व्याख्या निरुक्ति के अनुसार है। संस्कृत में निरुक्ति इस प्रकार है—

सि—सितं—बँधे हुए कर्म रूपी ईंधन को।

द्ध—ध्यातं—भस्म कर दिया है।

अथवा—सिद्ध शब्द 'षिधु' धातु से बना है। षिधु का अर्थ गति करना है। अर्थात् जो गमन कर चुके हैं, ऐसे स्थान को जहाँ से फिर कभी लौटकर नहीं आते, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

अथवा 'षिधु' धातु का अर्थ है—सिद्ध हो जाना। जिन

का कोई भी कार्य शेष नहीं रहा है—सभी कार्य जिनके सिद्ध हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं।

अथवा—'षिधूञ्' धातु से सिद्ध शब्द बना है। पिधूञ् का अर्थ है,—शास्त्र या मंगल। जो संसार को भली भांति उपदेश देकर संसार के लिए मंगलरूप हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

सिद्ध का अर्थ नित्य भी होता है। नित्य का अर्थ यहाँ यह है कि 'जहाँ गये हैं वहाँ से लौटकर न आने वाले। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

ख्यातिप्राप्त अर्थात् प्रसिद्ध को भी सिद्ध कहते हैं। जिनके गुणसमूह ख्याति प्राप्त कर चुके हैं उन सिद्ध भगवान् के गुणसमूह भव्य जीवों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जिनके गुणसमूह भव्यजीवों में प्रसिद्ध हैं और जो भव्य जीवों को ही प्राप्त होते हैं उन सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

आचार्य ने सिद्ध भगवान् की व्याख्या इस श्लोक द्वारा और भी स्पष्ट कर दी है—

ध्मातं सितं येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो मे॥

अर्थात्—जिन्होंने पुराने काल से बाँधे हुए कर्म को भस्म करदिया है, जो मुक्ति रूपी महल में जा चुके हैं, जो विख्यात हो चुके हैं, जिनके गुणों को भव्य प्राणी भलीभांति जानते हैं, जिन्होंने धर्मका अनुशासन किया है, जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं, वे सिद्ध भगवान् हमारा मंगल करने वाले हों—हमारा कल्याण करें। ऐसे सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

प्रश्न—सिद्ध भगवान् अगर मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, अगर कृतकृत्य हो चुके हैं, तो हमें उनसे क्या प्रयोजन है? उन्हें

नमस्कार करने से क्या लाभ है ?

इस प्रश्न का समाधान यहाँ किया गया है। सिद्ध भगवान् को नमस्कार इस लिए करते हैं कि उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि गुण सदा शाश्वत हैं। उनका वीर्य अनन्त और अक्षय है। वे इन समस्त आत्मिक गुणों से अलंकृत हैं। अतएव वह हमारे विषय में भी हर्ष उत्पन्न करते हैं। सिद्धों के इन गुणों को देखकर हम भी यह जानने लगे हैं कि जो गुण सिद्धों में प्रकट हो चुके हैं वही सब गुण हमारी आत्मा में भी सत्ता रूप से विद्यमान हैं। अन्तर केवल यही है कि सिद्धों के गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो चुके हैं और हमारे गुण कर्मों के कारण प्रकट नहीं हुए हैं—दबे हुए हैं; क्यों कि आत्म-द्रव्य की अपेक्षा, निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धों की और हमारी आत्मा समान है। ऐसी स्थिति में जिनके गुण प्रकट हो चुके हैं उन्हें नमस्कार करने से हमें अपने गुणों का स्मरण हो आता है और हम उन गुणों को प्रकट करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार सिद्धों को नमस्कार करने से आत्मशोधन की प्रेरणा प्राप्त होती है, अतएव उन्हें नमस्कार करना चाहिए।

जिस मनुष्य के अन्तःकरण में थोड़े से भी सुसंस्कार विद्यमान हैं, वह गुणीजन को देखकर प्रमुदित होता है। मानव स्वभाव की यह आन्तरिक वृत्ति है, जिसे नैसर्गिक कहा जा सकता है। अगर कोई विशिष्ट विज्ञानवेत्ता हो तो साधारण जनों को उसे देखकर हर्ष होता है कि उसने हमारा पथ प्रशस्त कर दिया है। इसकी बदौलत हमारे अभ्युदय की कल्पना मूर्त्तिमती हो गई है। इसे आदर्श मानकर हम भी इस पथ पर अग्रसर हो सकेंगे और सफलता प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार सिद्धों में और हम में जब मौलिक समानता है तो जिन गुणों को सिद्ध प्रकट कर चुके हैं उन्हीं गुणों

को हम क्यों न प्रकट कर सकेंगे।

किसी के किसी गुण का अनुकरण करने के लिए उसके प्रति आदर भाव होना आवश्यक है। इस नियम से सिद्धों के गुणों का अनुकरण करने के लिए उनके प्रति भी आदर एवं भक्ति की भावना अपेक्षित है । इसी उद्देश्य से सिद्ध भगवान को नमस्कार किया जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर हमारी आत्मा में सिद्धों के समान ही गुण विद्यमान हैं तो हम में और सिद्धों में कुछ भी अन्तर नहीं है। तब हम उन्हें नमस्कार क्यों करें ? इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्येक आत्मा में समान गुण होने पर भी संसारी जीव अपने गुणों को भूल रहा है। उदाहरणार्थ संसारी आत्मा में ज्ञान गुण मौजूद है। मगर वह कर्मों के कारण विकृत हो रहा है और अत्यन्त सीमित हो रहा है। अनादिकालीन कर्मों के प्रभाव से आत्मा इतना दुर्बल हो गया है कि इन्द्रियों का सहारा लेकर उसे ज्ञान करना पड़ता है। कान के द्वारा न जाने कितने शब्द अब तक सुने हैं और यदि कान बने रहे तो न मालूम कितने शब्द सुने जा सकते हैं सुनने की यह शक्ति कान की नहीं है किन्तु कान के द्वारा आत्मा ही सुनता है। यही बात घ्राण, रस, स्पर्श और रूप आदि के विषय में समझनी चाहिए। लेकिन इन्हें जानने के लिए इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा होना आत्मा की कमजोरी है। आत्मा स्वयं देखे, सुने, उसे इन्द्रिय आदि किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा न रहे यह आत्मा का असली स्वाभाविक स्वरूप है। यह गुण कैसे मालूम हो, इस बात को इन्द्रियद्वार से देखना चाहिए।

शास्त्रकारों ने दस प्राण बतलाये हैं । पांच इन्द्रियां, तीन बल-मनोबल, वचन बल, कायबल श्वासोच्छ्वास और आयु

यह दस प्राण हैं। इन्हें द्रव्य प्राण कहा जाता है।

सिद्धों में चार भाव प्राण होते हैं—ज्ञानप्राण, दर्शनप्राण, वीर्य प्राण और सुख प्राण। यह चार आत्मा के असली प्राण हैं और संसारी जीव के दस प्राण विकारी हैं। इन दस प्राणों से हम आत्मा के असली प्राणों का पता लगा सकते हैं। जैसे-ज्ञान और दर्शन प्राण इन्द्रिय प्राण में समाये हुए हैं, तीनों बलों में वीर्य प्राण समाया हुआ है और आयु एवं श्वासोच्छ्वास प्राणों में सुख प्राण समाया हुआ है।

सुख प्राण को श्वासोच्छ्वास भी कहा जा सकता है। शान्तिपूर्वक श्वास आने के समान संसार में और कोई सुख नहीं है। दूसरे सुख ऊपरी हैं। श्वास शान्ति के साथ आवे यह सुख प्राण है। मगर विकार दशा में इस सुख प्राण के द्वारा सुख भी होता है और दुख भी होता है। यह सुख-दुःख मिटकर आत्मा को उसका स्वकीय सुख प्राप्त हो, यही वास्तविक सुख प्राण है।

उक्त दस प्राणों में एक आयु प्राण बतलाया गया है। आत्मा जबतक शरीर में है तभी तक आयु के साथ उसका संबंध है। आत्मा जब शरीर से अतीत हो जाता है तब आयु के साथ उसका संबंध नहीं रहता। आत्मा का असली गुण स्थिति है। परन्तु यह स्थिति गुण आयु के साथ रहने से नष्ट हो गया है। यह स्थिति गुण भी सुख प्राण रूप है।

इसी प्रकार हम आत्मा के अन्यान्य गुणों का भी पता लगा सकते हैं। सिद्ध भगवान् का स्वरूप जानकर हमें यह प्रतीति होती है कि इन्द्रियों के इशारे से सिद्धों ने अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकट किया है। सिद्धों के इस कार्य से हमें भी अपना आत्मबल प्रकट करने का मार्ग नज़र आगया है। इस कारण हम सिद्धों को नमस्कार करते हैं।

'णमो आयरियाणं' का विवेचन

नमस्कार मंत्र के दो पदों का विवेचन किया जा चुका। तीसरा पद है—णमो आयरियाणं—आचार्यों को नमस्कार हो।

आचार्य किसे कहते हैं, इस संबंध में टीकाकार कहते हैं कि 'आ' अक्षर का अर्थ है—मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ और 'चार्य' का अर्थ है—सेवनीय अर्थात् सेवा करने योग्य। तात्पर्य यह है कि मर्यादा के साथ जिनकी सेवा की जाती है, बिना मर्यादा के जिनकी सेवा नहीं होती अर्थात् भव्य प्राणियों द्वारा जो मर्यादापूर्वक सेवित हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

भव्य प्राणी आचार्य की सेवा क्यों करते हैं? इस संबंध में टीकाकार कहते हैं कि सूत्र के मर्म का अर्थ करने का अधिकार जिन साधुओं को है 'वे आचार्य कहलाते हैं'। शास्त्र में कहा है—

> सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
>
> गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥

इस गाथा में सूत्र के परमार्थ को जानने वाले और शरीर के सब लक्षणों से युक्त मुनि को आचार्य कहा गया है।

आचारांग सूत्र में शरीर के लक्षणों के संबंध में विशद व्याख्यान किया गया है। वहाँ बतलाया गया है कि जिसकी आकृति अच्छी होती है उसमें गुण भी प्रायः अच्छे होते हैं। जिसकी आकृति विकृत होती है उसके गुण भी प्रायः वैसे ही होते हैं।

शास्त्र की इस गाथा में कहा गया है कि जो लक्षणों से

संपन्न हो और गच्छ का मेढ़ीभूत हो, उसे आचार्य कहते हैं।

खलिहानों में एक लट्ठा (मोटी लकड़ी) गाड़ कर उसके सहारे भूसा और अनाज अलग करने के लिए बैल घुमाये जाते हैं। उस लकड़ी को मेढ़ी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो चतुर्विध संघ का मेढ़ी भूत हो, चतुर्विध संघ जिसके सहारे टिका रहे और जो गच्छ की चिन्ता से मुक्त हो—जिसने गच्छ का उत्तरदायित्व दूसरे साधु को सौंप दिया हो, ऐसा सूत्रार्थ का प्रतिपादन करने वाले को आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार से भी है। 'आ' का अर्थ है मर्यादा के साथ, 'चार' का अर्थ है विहार या आचार। तात्पर्य यह है कि ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार नामक पांच आचारों में जो मर्यादा पूर्वक विहार करते हैं अर्थात् पांचों आचारों का पालन करने में जो दक्ष हैं, आप स्वयं पालते हैं और दूसरों को पालने के लिए उपदेश देते हैं—दृष्टान्त और युक्ति से बोध कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त पांच आचारों का जो स्वयं दक्षता पूर्वक पालन करते हैं और दूसरों को पालन करने का उपदेश देते हैं वह आचार्य कहलाते हैं। जो स्वयं जिस आचार का पालन नहीं करता और केवल दूसरों को उपदेश ही देता है वह आचार्य नहीं है।

वास्तविक उपदेश वही है और वही प्रभावजनक हो सकता है जिसका पालन कर दिखाया जावे। जीवन-व्यवहार द्वारा प्रदर्शित उपदेश अधिक प्रभावशाली, तेजस्वी, स्पष्ट और प्रतीतिजनक होता है। अतएव जो स्वयं व्यवहार में पालन कर दिखाता है—अपने कर्तव्य द्वारा उपदेश प्रदर्शित करता है तथा कोई भव्य प्राणी यदि उस आचार के मर्म को जानना

चाहता है तो उसे दृष्टान्त, हेतु एवं युक्ति से समझाता है, वही सच्चा आचार्य है।

आचार्य का स्वरूप समझने के लिए एक लौकिक दृष्टान्त उपयोगी होगा। मान लीजिए, एक आदमी कहता है कि मैं डाक्टर हूँ—सर्जन हूँ। मैं पुस्तकीय बात समझ सकता हूँ, समझा सकता हूँ, भाषण कर सकता हूँ, परन्तु मैं क्रियात्मक चिकित्सा नहीं कर सकता। क्या कोई ऐसे आदमी को डाक्टर कहेगा ? नहीं।

अगर कोई कृषि का आचार्य कहलाता है पर हल चलाना नहीं जानता और बीज बोना भी नहीं जानता, तो वह आचार्य कैसा !

जैसे लौकिक विषयों में स्वयं कर दिखाने वाले और फिर उपदेश देने वाले उस विषय के आचार्य कहलाते हैं, उसी प्रकार लोकोत्तर विषय–धर्म के संबंध में भी वही साधु आचार्य की पदवी प्राप्त कर सकते हैं जो स्वयं आचार का पालन कर दिखाते हैं। ऐसे आचारनिष्ठ उपदेशक ही आचार्य कहे जा सकते हैं।

आचार्य शब्द का एक शब्दार्थ और है। 'आ' का अर्थ है-कुछ-कुछ अर्थात् थोड़े, और 'चार' का अर्थ है दूत। इस प्रकार 'आ-चार' का अर्थ हुआ-'कुछ-कुछ दूत के समान।' तात्पर्य यह है कि जैसे दूत अन्वेषण कार्य में या खोज करने में कुशल होते हैं, उसी प्रकार जो शिष्य उचित और अनुचित की खोज में, हेय और उपादेय के अन्वेषण में तत्पर हैं उन शिष्यों को उपदेश देने में जो कुशल हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

आचार्य शब्द की पूर्वोक्त व्याख्याओं में आचार्य के जिन

गुणों का समावेश किया गया है, उन गुणों से सुशोभित आचार्य महाराज को नमस्कार हो।

साधु और आचार्य में क्या अन्तर है, यह प्रश्न यहां सहज ही उद्भूत हो सकता है। साधु और आचार्य-दोनों ही पांच महाव्रतों का पालन करते हैं, दोनों ही आहार के बयालीस दोष टालकर भिक्षा ग्रहण करते हैं, दोनों ही सकल संयम के धारक हैं, तो सामान्य साधु में और आचार्य में क्या अन्तर है? इस भेद का कारण क्या है? परमेष्ठी में एक का स्थान तीसरा और दूसरे का पांचवाँ क्यों है?

साधु और आचार्य का अन्तर सुगमता से समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। मान लीजिये एक मकान बन रहा है। उसमें सैकड़ों कारीगर काम करते हैं। सब के हाथों में कारीगरी के औजार हैं। लेकिन सब कारीगरों के ऊपर एक इंजिनियर है। इस इंजिनियर पर जैसा चाहिए वैसा मकान बनवाने की तथा हानि लाभ की जिम्मेवरी है। काम तो सब कारीगर करते हैं परन्तु बुद्धि इंजिनियर बन जाता है। सब कारीगर उसी के आदेशानुसार कार्य करते हैं। इसी कारण मकान में एक रूपता रहती है और इच्छानुसार मकान बन जाता है। अगर सभी कारीगर स्वच्छन्द हो और अपनी इच्छित मर्जी के मुताबिक मकान बनाने के लिए उद्यत हो जाएँ तो मकान की एक रूपता नष्ट हो जायगी, इच्छित मकान नहीं बन सकेगा।

यही बात यहां समझनी चाहिए। संघ को एक मकान समझ लीजिए। संघ में यद्यपि अनेक साधु होते हैं और वे सब समान भी हैं, तथापि इंजिनियर के समान आचार्य की आवश्यकता रहती है। जैसे इंजिनियर के आदेशानुसार मकान

बनाने से मकान में अच्छाई और एकरूपता आती है; उसी प्रकार आचार्य के आदेशानुसार कार्य करने से संघ में अच्छाई आती है और एकरूपता रहती है।

किस साधु ने ज्ञान का विशेष अभ्यास किया है, कौन दर्शन में उत्कृष्ट है, किसमें कौनसी और कितनी शक्ति है और किसे कहां नियुक्त करना चाहिये, यह सब बातें अगर आचार्य के निरीक्षण में न हों तो संघ रूपी मकान में भद्दापन आ जायगा और अनेक साधु रूपी कारीगरों की शक्ति समुचित रूप से उपयोग में नहीं आ सकेगी। संघ को भी अपना कार्य आचार्य की देख रेख में होने देना चाहिए और आचार्य पर पूर्ण श्रद्धा भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से संघ रूप मकान में भव्यता आती है।

कहा जा सकता है कि साधु समूह में से ही एक को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। मगर यदि अन्य साधुओं में भी आचार्योचित गुण विद्यमान हों तो उन्हें भी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित क्यों न किया जाय? इसका समाधान यह है कि एक को प्रधान माने विना कार्य सुचारू रूप से नहीं होता। कहा भी है—

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः

अर्थात् जिस समूह का कोई नायक-नेता नहीं होता उसकी दुर्दशा होती है और जिस समूह के बहु तेरे नायक होते हैं, उसकी भी वही दुर्दशा होती है।

जैसे सैंकड़ों, हजारों सदस्यों में से किसी एक बुद्धिमान पुरुष को सभापति निर्वाचित कर लिया जाता है और उसके निर्वाचन से कार्य व्यवस्थापूर्वक एवं शान्ति के साथ सम्पन्न

होता है, उसी प्रकार संघ का कार्य समीचीन रूप से चलाने के लिए आचार्य का निर्वाचन किया जाता है। सभा में उपस्थित सदस्यों में अनेक बुद्धिमान पुरुष होते हैं मगर उन सब को सभापति नहीं बनाया जाता। ऐसा करने से सभापति पद की उपयोगिता ही विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार संघ में आचार्योचित गुणों से युक्त अनेक साधुओं की विद्यमानता में भी आचार्य एक ही बनाया जा सकता है। जैसे सब सदस्य, सभापति के आदेशानुसार वर्ताव करते हैं उसी प्रकार संघ आचार्य के आदेशानुसार चलता है। जैसे सभापति की बात न मानकर मनमानी करने से सभा छिन्न-भिन्न एवं अनियंत्रित हो जाती है, उसी प्रकार आचार्य की बात न मानकर स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करने से संघ भी छिन्न-भिन्न हो जाता है।

आचार्य, संघ की केन्द्रीभूत शक्ति है। जिस प्रकार राज्य-संचालन में केन्द्रीभूत शक्ति प्रधान मानी जाती है, उसी प्रकार संघ में आचार्य प्रधान माना जाता है।

तात्पर्य यह है कि संघ की शक्ति को जोड़ने में जो दत्त होता है, संघ के संचालन में जो प्रधान भाग लेता है, वह आचार्य है।

आचार्य को नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे स्वयं आचार का पालन करने के साथ ही दूसरों के आचार का ध्यान रखते हैं और उसके पालन करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार आचार्य हमें ज्ञान-दर्शन आदि में स्थिर रखते हैं। इस महान् उपकार से उपकृत होकर हम उन्हें नमस्कार करते हैं।

'णमो उवज्झायाणं' का विवेचन

—••:०:••—

आचार्य को नमस्कार करने के पश्चात् चौथे पद में कहा गया है—णमो उवज्झायाणं—उपाध्याय को नमस्कार हो।

उपाध्याय शब्द का अर्थ बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—'उपाध्याय' शब्द 'उप' और 'अध्याय' इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'उप' का अर्थ है समीप में, और 'अध्याय' का अर्थ है स्वाध्याय करना। अर्थात् जिनके पास सूत्र का पाठ लेने के लिए विशेष रूप से जाना पड़ता है, जिन के पास से सूत्र का पाठ समझा जाता है, तथा जिनके पास सूत्र का पठन-पाठन होता है, और जिनके पास जाने से सूत्रार्थ का स्मरण होता है अर्थात् जो सूत्रार्थ का स्मरण कराते हैं, उन विद्वान महात्मा को उपाध्याय कहते हैं।

शास्त्र में कहा है—

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइसंति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट बारह अंग रूप स्वाध्याय बुद्धिमान् गणधरों ने बतलाया है। उसका जो उपदेश करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आचार्य और उपाध्याय में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उपाध्याय शिष्यों को मूल सूत्र पढ़ाकर तैयार कर देते हैं और आचार्य सूत्रों की व्याख्या करके समझाते हैं। सूत्रों की व्याख्या करके समझाना

आचार्य का काम है। मकान बनाने से पहले नींव तैयार की जाती है और तत्पश्चात् मकान बनाया जाता है। इसी प्रकार पहले सूत्र की भूमिका रूपी नींव डालने का कार्य उपाध्याय करते हैं और उस पर व्याख्या रूपी भवनका निर्माण आचार्य करते हैं।

उपाध्याय शब्द के और अर्थ भी हैं। जैसे-जिनके पास जाने से उपाधि प्राप्त हो—जो शिष्यों को उपाधि देने वाले हो, जो पढ़ाई के साक्षीदाता हों, जिसकी पढ़ाई की प्रतीति हो, उसे उपाध्याय कहते हैं। यहाँ 'उपाधि' का अर्थ पदवी, अधिकार या प्रमाणपत्र (Certificate) है।

आज उपाध्याय का नाम मात्र रह गया है। जिसका जब जी चाहता है वही शास्त्र वांचने लगता है। उपाध्याय के समीप जाकर शास्त्राध्ययन करने की अब आवश्यकता नहीं रह गई है। प्राचीन काल में ऐसी अव्यवस्था नहीं थी। पहले उपाध्याय के पास, विधिपूर्वक शास्त्र का अभ्यास करने के लिए शिष्य जन जाया करते थे। अध्ययन प्रणाली के विषय का प्राचीन इतिहास शास्त्र बतलाता है।

जिनकी समीपता से अनायास ही लाभ पहुँचता है, उन्हें भी शब्दार्थ के अनुसार उपाध्याय कहते हैं। जिनका उपाधि अर्थात् समीपता से 'आय' अर्थात् लाभ प्राप्त हो वह उपाध्याय हैं। आशय यह है कि जैसे गंधी की दुकान पर जाने से अनायास ही सुगंध की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार उपाध्याय के पास जाने से भी अनायास ही लाभ हो जाता है। उपाध्याय के पास सूत्र का स्वाध्याय सदा चलता रहता है, इसलिए उनके पास जाने वाले को सहज ही स्वाध्याय का लाभ मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनकी समीपता से अना-

यास ही लाभ की प्राप्ति होती है उन्हें भी शब्दार्थ के अनुसा
उपाध्याय कहते हैं।

अथवा—'आय' का अर्थ है—इष्ट फल। जो इष्ट फ
देने के निमित्त हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। जो आम का वृ
मधुर फलों से सम्पन्न है उनके समीप जाने से फल की प्राप्ति
होती है, इसी प्रकार जिनके निमित्त से मनोवांछित फल अना
यास ही प्राप्त हो जाय उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

अथवा—'आधि' शब्द का अर्थ है—मानसिक पीड़ा
उसका लाभ 'आध्याय' कहलाता है। तथा 'आधि' शब्द में जे
'अ' अक्षर है वह कुत्सित अर्थ में प्रयोग किया गया है, अतएव
'अधी' का अर्थ हुआ—कुत्सित बुद्धि—कुबुद्धि। 'अधी' के आय
अर्थात् लाभ को 'अध्याय' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त
'अध्याय' का अर्थ दुर्ध्यान—अप्रशस्त ध्यान भी होता है। इस
प्रकार 'आध्याय' (मानसिक पीड़ा) और अध्याय (कुबुद्धि का
लाभ तथा दुर्ध्यान) जिनके नष्ट होजाते हैं वह उपाध्याय हैं।
तात्पर्य यह है कि जो मानसिक पीड़ा से रहित हैं और अप्रशस्त
ध्यान से भी रहित हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

उपाध्याय शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने
युक्ति-बल से यह स्पष्ट कर दिया है कि जिसके हृदय में दुर्ध्यान
होता है वह उपाध्याय नहीं है। यों तो संसार में अनेक लोग
उपाध्याय कहलाते हैं, यहां तक कि 'उपाध्याय' जन्मजात
पदवी भी होगई है और यही नहीं बहुत से लोग महामहोपाध्याय
तक कहलाते हैं, लेकिन वे इस व्याख्या के अन्तर्गत नहीं हैं।
यहां उपाध्याय के गुणों में एक गुण यह भी बतलाया गया है
कि वह दुर्ध्यान से रहित होना चाहिए। जिसने आर्त्तध्यान
और रौद्रध्यान का नाश कर दिया हो अर्थात् जो कोरा पंडित

ही न हो वरन् पंडित होने के साथ ही धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान में वर्तमान रहता हो, वही उपाध्याय पदवी का अधिकारी है।

उपाध्याय को नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपाध्याय न होते तो भगवान् महावीर से आया हुआ परम्परा का ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता? उपाध्याय की कृपा से ही यह ज्ञान हमें प्राप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय महाराज शिष्यों को ज्ञान सिखाकर सूत्र द्वारा भव्य प्राणियों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार उपाध्याय हमारे महान् उपकारक हैं। इसी कारण उन्हे नमस्कार किया जाता है।

उपाध्याय और आचार्य की परम्परा अगर अविछिन्न रूप से चालू रहे तो अपूर्व लाभ होता है। व्यवस्था सभी जगह लाभदायक है। संसार के कार्य व्यवस्था के साथ किये जाते हैं तो सफल होते हैं। धर्म के विषय में की व्यवस्था का मूल्य कम नहीं है। व्यवस्था चाहे लौकिक हो, चाहे धार्मिक उसे बिगाड़ देने से सभी को हानि पहुँचती है। शास्त्र में अन्य पाप करने वाले को नवीन दीक्षा से अधिक प्रायश्चित्त नहीं कहा है, परन्तु गण और संघ में भेद करने वाले को दशवें प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

भगवान् कहते हैं-मेरे संघ को छिन्न-भिन्न करने वाला पुरुष परम्परा से लाखों जीवों को हानि पहुँचाता है। भगवान् के इस महत्वपूर्ण कथन पर विचार करके संघ की व्यवस्था करना उचित है। प्रत्येक पुरुष स्वच्छंद हो तो उस संघ को हानि पहुँचे बिना नहीं रह सकती। संघ की वह हानि तात्कालिक ही नहीं होती, उसकी परम्परा अगर चल पड़ती है तो दीर्घ काल तक उससे संघ को हानि पहुँचती रहती है।

'णमो सव्वसाहूणं' का विवेचन

नमस्कार मंत्र के चार पदों का संक्षेप में विवेचन किया जा चुका है। पाँचवा पद है—

णमो सव्वसाहूणं

अर्थात्—सब साधुओं को नमस्कार हो।

'णमो' का अर्थ पहले बतलाया जा चुका है। वही अर्थ यहाँ पर भी समझना चाहिए। साधु किसे कहते हैं, यह देखना चाहिए। इस संबंध में आचार्य (टीकाकार) लिखते हैं—'साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः' अर्थात् ज्ञानादि रूप शक्तियों के द्वारा जो मोक्ष को साधना करते हैं वह साधु कहलाते हैं।

अथवा—'समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति साधवः' अर्थात् समस्त प्राणियों पर जिनका समताभाव हो, जो किसी पर राग-द्वेष न रक्खे, वन्दना करने वाले और निन्दा करने वाले पर समान भाव धारण करे, जो प्राणीमात्र को आत्मा के समान समझे, उसे साधु कहते हैं। कहा भी है—

> निव्वाणसाहए जोए जम्हा साहेंति साहुणो।
> समो य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो॥

अर्थात्:—जो पुरुष निर्वाण के साधक ज्ञान, दर्शन आदि योगों को साधता है और सब प्राणियों पर समभाव रखता है वही भाव साधु कहलाता है।

अथवाः—'साहायकं वा संयम कारिणां धारयन्तीति साधवः।' अर्थात् जो संयम पालने वालों की सहायता करता है वह साधु कहलाता है।

जो पुरुष जैसी सहायता कर सकता है वह वैसी ही सहायता करता है। साधु अपनी पद-मर्यादा के अनुकूल अन्य भव्य प्राणियों की मोक्ष साधना में सहायक बनते हैं, इसलिए निर्युक्ति के अनुसार उन्हें साधु कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यहां 'णमो साहूणं' न कहकर 'णमो सव्व साहूणं' क्यों कहा गया है? 'सव्व' का अर्थ है—सर्व अर्थात् सब। साधु के लिए 'सव्व' विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि—साधुओं में साधना के भेद से अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैसे अरिहन्त, सिद्ध में सर्वथा समानता है, वैसी समानता साधुओं में नहीं है। यद्यपि साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान ही हैं तथापि उनमें कोई सामायिक चारित्र वाला, कोई छेदोपस्थापनीय चारित्र वाला, कोई परिहार विशुद्धि चारित्र वाला, कोई सूक्ष्म सम्पराय चारित्र वाला और कोई-कोई यथाख्यात चारित्र वाला होता है। साधु के साथ सव्व (सर्व–सब) विशेषण लगा देने से इन सब की गणना हो जाती है। हमारे लिए सभी साधु वन्दनीय है, यह प्रकट करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा कोई छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त संयत साधु होते हैं और कोई सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान के अप्रमत्तसंयत साधु होते हैं। इन सब साधुओं में से कोई भी साधु न छूटने पावे सबका ग्रहण हो जाय, इस अभिप्राय से 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा मुनि (निर्ग्रन्थ) छः प्रकार के होते हैं। कोई पुलाक, कोई बकुश, कोई कषाय-कुशील, कोई प्रतिसेवना कुशील, कोई निर्ग्रन्थ और कोई स्नातक होते हैं यह सभी मुनि वन्दनीय हैं, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा साधुओं में कोई जिन कल्पी होते हैं, जो उत्सर्ग मार्ग पर चलते हुए वन में एकाकी विचरते हैं। कोई मुनि पडिमाधारी होते हैं। कोई यथालन्द कल्पी होते हैं, जो स्वयं ही लाकर आहार करते हैं। कोई कोई मुनि स्थविर कल्पी होते हैं। यह स्थविरकल्पी दस प्रकार के कल्प में स्थिर रहते हैं। कोई मुनि कल्पातीत होते हैं, जैसे तीर्थंकर और स्नातक नियंठा वाले मुनि। इनके लिए कोई कल्प नहीं है। यह अपने ज्ञान में देखकर जो उचित होता है, वही करते हैं। इन सब प्रकार के मुनियों को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

अथवा—कोई साधु प्रत्येक बुद्ध होते हैं, जिन्होंने किसी वस्तु को देखकर बोध प्राप्त किया हो। कोई स्वयंबुद्ध होते हैं, जो परोपदेश आदि के बिना स्वयं ही बोध प्राप्त करते हैं। कोई मुनि बुद्धबोधित होते हैं, जो किसी ज्ञानी के उपदेश से बोध प्राप्त करते हैं। इन सब को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है।

अथवा—केवल भरत क्षेत्र में स्थित साधु ही वन्दनीय नहीं हैं, किन्तु महाविदेह क्षेत्र, जम्बूद्वीप, धातकीखंड द्वीप आदि जिस किसी भी क्षेत्र में साधु विद्यमान हों, उन सब साधुमार्गी की साधमार्ग करने वालों को नमस्कार करने के उद्देश्य से 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

यह कहा जा सकता है कि चौथे आरे में जैसे साधु होते थे, वैसे आज-कल नहीं होते। फिर सब को अभिन्न भाव से नमस्कार करना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? इसका समाधान यह है कि चौथे ओर में संहनन आदि की विशिष्टता से उग्र संयम के पालक जैसे साधु होते थे, वैसे कालदोष से विशिष्ट संहनन आदि की शिथिलता के कारण आज भले ही न हो, तथापि आज-कल के साधु भी जो साधु पद की मर्यादा के अन्तर्गत हैं'। उनमें भी साधुत्व का लक्षण पाया जाता है, अतः साधुत्व की दृष्टि से सब समान हैं। इसके अतिरिक्त अगर चौथे आरे के समान साधु आज-कल नहीं हैं तो चौथे आरे के समान वन्दना करने वाले श्रावक भी तो नहीं हैं।

प्राचीन काल में जो कार्य जिस प्रकार से होता था, आज-कल वह उस प्रकार नहीं होता। केवल इसी कारण प्रत्येक कार्य को निन्दनीय नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्येक कार्य पर समय का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ गाय पहले जितना दूध देती थी, आज उतना दूध नहीं देती। फिर भी वह दूध तो देती ही है। उसका दूध उपयोग में आता ही है। गधी के दूध का तो उसके स्थान पर उपयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संसार के पदार्थ पहले वाले नहीं हैं, फिर भी हैं तो वैसे ही। प्रत्येक बात का विचार करते समय काल का भी विचार करना चाहिए। अतएव देश-काल के अनुसार जो उत्तम ज्ञान, दर्शन और चारित्र धारण करते हैं, उन सब को नमस्कार करने के लिए 'सव्व' शब्द का उपयोग किया गया है।

साधुओं के साथ प्रयुक्त किया गया 'सर्व' विशेषण

अत्यन्तर गंभीर विचार का परिणाम है। गुणवान् मुनियों में से कोई भी शेष न रह जाय, यह सूचित करने के उद्देश्य से सव्व (सर्व) विशेषण लगाया गया है। कोई उत्तम रीति से ही साधुता का पालन करता है, कोई मध्यम रूप से। परन्तु जो साधु धर्म की आराधना में तत्पर हैं वे सब साधु हैं। उन सब को यहां नमस्कार किया गया है।

शंका—अगर समस्त साधुओं का ग्रहण करने के लिए 'सव्व' विशेषण लगाया गया है तो समस्त अरिहन्तों का ग्रहण करने के लिए, सब सिद्धों का समावेश करने के लिए तथा समस्त आचार्यों और उपाध्यायों का ग्रहण करने के लिए पहले के चार पदों में 'सव्व' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया गया है? सब अर्हन्त न एक ही देश में होते हैं, न एक ही काल में होते हैं। उनमें भी अनेक भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार सिद्ध आदि में भी भेद हो सकते हैं। फिर एक पद के साथ ही 'सव्व' विशेषण क्यों प्रयोग किया गया है?

समाधान—अन्त के पद में जो विशेषण लगाया गया है उसका संबंध पदों के साथ किया जा सकता है। अतएव 'सर्व' विशेषण की अर्हन्त आदि पदों के साथ योजना कर लेना भी अनुचित नहीं है, क्योंकि न्याय सब के लिये समान है। ऐसी स्थिति में सब अर्हन्तों को, सब सिद्धों को, इस प्रकार प्रत्येक पद के साथ 'सर्व' का समन्वय किया जा सकता है। अरिहंत चाहे तीसरे आरे के हों, चाहे चौथे आरे के, चाहे भरत क्षेत्र वर्त्ती हों, चाहे विदेह क्षेत्र वर्त्ती हों, किसी भी काल के और किसी भी देश के क्यों न हों, बिना भेदभाव के सब नमस्कार करने योग्य हैं। इसी प्रकार सिद्ध चाहे स्वलिंग से हुए हों, चाहे अन्य लिंग से, चाहे तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए हों, चाहे

तीर्थंकर हुए बिना सिद्ध हुए हों, सभी समान भाव से नमस्करणीय हैं।

अरिहन्त और सिद्ध की तरह आचार्य भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। अतः जिस पद में आचार्य को नमस्कार किया गया है, उस पद में भी 'सव्व' विशेषण लगा लेना चाहिए। इसी प्रकार देश काल के भेद से तथा श्रुत सम्बन्धी योग्यता एवं क्षयोपशम के भेद से उपाध्यायों में भी अनेक विकल्प किये जा सकते हैं। उन सब उपाध्यायों का संग्रह करने के लिए उपाध्याय के चौथे पद में भी 'सव्व' विशेषण की योजना कर लेना असंगत नहीं है।

यहाँ तक 'सव्व' का अर्थ सर्व-सब मानकर संगति बिठलाई गई है। मगर 'सव्व' शब्द के और भी अनेक रूपान्तर होते हैं और उन रूपान्तरों का अर्थ भी पृथक् २ होता है।

'सव्व' का एक रूप होता है—सार्व। जो सब के लिए हितकारक हो वह 'सार्व' कहलाता है। यह 'सार्व' साधु का विशेषण है। तात्पर्य यह है कि समान भाव से सब का हित करने वाले साधुओं को नमस्कार हो। जैसे जल बिना किसी भेदभाव के सब की प्यास मिटाता है, सूर्य सब को प्रकाश देता है, वह राजा रंक का पक्षपात नहीं करता, इसी प्रकार सच्चा साधु भी सब का हितकारक होता है। सब का कल्याण करने वाला ही वास्तव में साधु कहलाता है साधु की हित-कामना किसी सम्प्रदाय या वर्ग विशेष की सीमा में सीमित नहीं होनी चाहिए।

अथवा—'सव्वसाहूणं' पद में षष्ठी तत्पुरुष समास है। यहाँ सार्व शब्द से अरिहन्त भगवान् का ग्रहण किया गया है। अतएव तात्पर्य यह हुआ कि सब का कल्याण करने वाले-सार्व

अर्थात् अरिहंत भगवान् के साधुओं को नमस्कार हो। यों तो आचार्य और उपाध्याय आदि भी सब का कल्याण करने वाले हैं परन्तु वे छद्मस्थ होते हैं। अतः उनसे प्रकृतिजन्य किसी दोष का होना संभव है। अरिहंत भगवान् सर्वज्ञ और वीतराग हो चुके हैं। वे सब प्रकार की भ्रमणाओं से अतीत हो चुके हैं। अतएव वे निर्दोष रूप से सब का एकान्त हित करने वाले हैं। उन सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् के अनुयायी साधुओं को ही यहाँ नमस्कार किया गया है।

अथवा—'सव्वसाहूणं' का अर्थ है–सर्व प्रकार के शुभ योगों की साधना करने वाले। अर्थात् समस्त अप्रशस्त कार्यों को त्यागकर जो प्रशस्त कार्यों की साधना करते हैं, वे सर्व-साधु कहलाते हैं। इस व्याख्या से आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि अगर कभी किसी साधु में अशुभ योग आ जाय तो वह वन्दना करने योग्य नहीं है।

अथवा—'सार्व' अर्थात् अरिहंत भगवान् की साधना आराधना करने वाले 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। अथवा मिथ्या मतों का निराकरण करके सार्व अर्थात् अरिहंत भगवान् की प्रतिष्ठा करने वाले भी 'सार्वसाधु' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो एकान्त वादी, मिथ्या मतों का खंडन करके भगवान् के शासन की प्रतिष्ठा करते है–स्थापना करते हैं, भगवान् के शासन को युक्ति, तर्क एवं प्रमाण के द्वारा सुदृढ़ बनाते हैं, वह सार्वसाधू कहलाते हैं। यहाँ पर भी 'सार्व' शब्द से अरिहंत भगवान् का ही ग्रहण किया गया है।

अथवा प्राकृत भाषा के 'सव्व' शब्द का संस्कृत रूप 'श्रव्य' भी होता है और 'सव्य' भी होता है। 'श्रव्य' का अर्थ है श्रवण करने योग्य, और 'सव्य' का अर्थ है अनुकूल या

अनुकूल कार्य। साधु शब्द का अर्थ है–कुशल। इस प्रकार 'सव्व साहूणं' का अर्थ हुआ–सुनने योग्य वाक्यों को सुनने में जो कुशल है, जो न सुनने योग्य को नहीं सुनता है, वह 'श्रव्य-साधु' कहलाता है।

'सव्वसाहूणं' की संस्कृत-छाया जब 'सव्यसाधुभ्यः' की जाती है तब उसका अर्थ होता है कि जो अनुकूल कार्य करने में दक्ष हों ऐसे साधुओं को नमस्कार हो। यहाँ अनुकूल कार्य से ऐसे कार्य समझना चाहिये जो साधु के संयम के पोषक हों-संयम से विपरीत न हों अथवा, जिस उद्देश्य से उसने संयम धारण किया है, उस उद्देश्य-मोक्ष-के अनुकूल हों। ऐसा करने वाले साधुओं को नमस्कार हो।

कहीं कहीं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' और कहीं कहीं 'नमो सव्वसाहूणं' पाठ पाया जाता है। इस संबंध में टीकाकार ने कहा है कि 'सर्व' शब्द कहीं-कहीं एक देश की सम्पूर्णता के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। मान लीजिए भोज के अवसर पर किसी ने कहा–'सब मनुष्य आगये हैं। यहां 'सब' शब्द का अर्थ क्या लिया जा सकता है ? सब मनुष्य दिल्ली के, भारत वर्ष के या विश्व भर के समझे जाएँ ? अथवा भोज में निमंत्रित सब व्यक्ति लिए जाएँ। निस्संदेह ऐसे अवसर पर 'सब' का अर्थ 'सब निमंत्रित मनुष्य' समझना होगा। यद्यपि निमंत्रित मनुष्य थोड़े से ही होते हैं, फिर भी उनके लिए 'सब' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार 'सब' शब्द एक देश की सम्पूर्णता को भी प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में 'सव्व साहू' सिर्फ इतना कहने से यह स्पष्ट नहीं होता कि किसी एक प्रकार के सब साधु, किसी एक देश के सब साधु अथवा किसी एक ही काल के सब साधु यहां ग्रहण किये गये हैं या

सभी प्रकारों के, सभी देशों के और सभी कालों के सब साधु यहां ग्रहण किये गये हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही यहाँ 'लोए' शब्द का प्रयोग किया गया है। लोए अर्थात् लोक में विद्यमान सभी साधुओं को नमस्कार हो।

'लोए' शब्द लगा देने पर भी आखिर प्रश्न खड़ा रहता है कि 'लोक' शब्द से यहां कौनसा लोक समझा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु अढ़ाई द्वीप रूप मनुष्य लोक में ही हो सकते हैं, अतएव लोक शब्द से मनुष्य-लोक का ही अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार 'नमो लोए सव्व साहूणं' का अर्थ होता है-'मनुष्य लोक में विद्यमान सब साधुओं को नमस्कार हो।'

'लोक' शब्द का प्रयोग करने से सारे मनुष्य लोक के साधुओं का समावेश हो गया। किसी गच्छ या सम्प्रदाय विशेष की संकुचितता के लिए अवकाश नहीं रहा। साधु किसी भी गच्छ का हो, जिसमें ऊपर बतलाये हुए गुण विद्यमान हैं, वह वन्दनीय है। जिन्होंने अज्ञान-अंधकार को दूर करके ज्ञान का लोकोत्तर आलोक प्रदान किया है, जिन्होंने कुपथ से निवृत करके सुपथ पर लगाया है, जिन्होंने जीवन के महान् साध्य को समीप बनाने में अनुपम सहायता दी है, जिनके परम अनुग्रह से आत्मा-अनात्मा का विवेक जागृत हुआ है, उन साधुओं का उपकार अवश्यमेव स्वीकार करना चाहिए। सच्चे गुरू संकीर्णता एवं कदाग्रह मिटाना सिखाते हैं, संकुचित वृत्ति रखना नहीं सिखाते। सच्चे धर्मगुरू वही है जो खोटी संकीर्णता से निकाल कर विशालता में जाने का उपदेश देते हैं।

साधु को नमस्कार करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न

का उत्तर देने के लिए आचार्य ने कहा है—मानव का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष ही मनुष्य की परम साधना का ध्येय है। इस परम पुरुषार्थ की साधना में सहायता देने वाला साधु के सिवाय और कौन है? अरिहंत तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं, जो सब समयों में नहीं होते—विशेष समय पर ही होते हैं और आचार्य उतने ही होते हैं जितने गच्छ होते हैं। अतएव अरिहंत और आचार्य की सत्संगति का लाभ, सब को सब समयों पर नहीं हो सकता। साधु के साथ सब का समागम हो सकता है और वे मोक्ष की साधना का उपदेश भी देते हैं।

बादशाह एक ही होता है और प्रायः उसके राज्य के प्रान्तों की संख्या के अनुसार गवर्नरों की संख्या होती है। अतएव बादशाह और गवर्नर से सब की भेंट नहीं हो सकती। हाँ, उनके कर्मचारियों से सब की भेंट हो सकती है। अरिहंत को बादशाह, आचार्य को गवर्नर और साधुओं को कर्मचारी समझना चाहिए।

टीकाकार लिखते हैं कि साधु किस प्रकार मोक्ष में सहायक होते हैं, यह बात प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार बतलाई है—

> असहाए सहायत्तं, करेंति मे संजमे करेंतस्स ।
> एएण कारणेणं, णमामि हं सव्वसाहूणं ॥

अर्थात्—संयम धारण करने वाला जो असहाय होता है, उसके सहायक साधु ही होते हैं। साधु ही निराधार के आधार हैं और असहाय के सहायक हैं। इस कारण ऐसे महात्माओं को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रस्तुत शास्त्र के प्रथम मंगलाचरण के पाँच पदों का यह विवेचन यहाँ समाप्त होता है। अब इसी संबंध की अन्यान्य बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

कतिपय शंका-समाधान

—:o:—

शंका—प्रस्तुत मंगलाचरण में पाँच पदों को जो नमस्कार किया गया है सो यह संक्षेप में है या विस्तार से? संक्षेप में है, यदि ऐसा कहा जाय तो पांच पदों की क्या आवश्यकता थी? संक्षेप में दो पद ही पर्याप्त थे। अर्थात्—

नमो सव्वसिद्धाणं। नमो सव्वसाहूणं।

इन दो पदों में पाँचों परमेष्ठी अन्तर्गत हो सकते थे, क्योंकि साधु में अर्हन्त, आचार्य और उपाध्याय-सभी का समावेश हो जाता है। मंत्र यथासंभव थोड़े ही अक्षरों में होना चाहिए। फिर यहाँ पर तो उसे संक्षेप रूप ही स्वीकार किया गया है। थोड़े अक्षर होने से प्रथम तो मंत्र जल्दी याद हो जाता है, दूसरे याद भी बना रहता है। कष्ट आने पर लम्बे-चौड़े मंत्र का जाप करना कठिन हो जाता है। थोड़े अक्षरों के मंत्र का सरलता से ध्यान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पाँच पद क्यों बनाये गये हैं?

अगर यह कहा जाय कि विस्तार से नमस्कार किया गया है तो फिर पाँच ही पद क्यों बनाये गये हैं? अधिक क्यों नहीं बनाये गये। विस्तार की गुंजाइश तो थी ही। जैसे अरिहन्त, सिद्ध आदि को समुच्चाय रूप में, पृथक् पृथक् नम-

स्कार किया है, उसी तरह उनका पृथक्-पृथक् नाम लेकर नमस्कार किया जा सकता था। 'णमो उसहस्स' 'णमो अजिअस्स' इस प्रकार विस्तार के साथ नमस्कार करने में क्या हानि थी ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यहाँ न तो एकान्त संक्षेप से नमस्कार किया गया है और न एकान्त विस्तार से ही। यहाँ मध्यम मार्ग स्वीकार किया गया है। जितने में बोध भी हो जाय और नमस्कार करने वाले को अधिक भी न जान पड़े, ऐसी पद्धति का यहाँ अवलम्बन लिया गया है।

अगर शंकाकार के कथनानुसार विस्तार से नमस्कार किया जाय तो सम्पूर्ण आयु समाप्त हो जाने पर भी नमस्कार की क्रिया समाप्त न हो पायेगी, क्योंकि सिद्ध अनन्तानन्त हैं वे सभी अरिहंत भी हुए हैं। अतएव एकान्त विस्तार से नमस्कार करना संभव नहीं है।

अगर एकान्त संक्षेप पद्धति का आश्रय लिया जाता तो परमेष्ठियों का पृथक्-पृथक् स्वरूप समझने में कठिनाई होती। फिर आचार्य, उपाध्याय, साधु और अरिहन्त के स्वरूप में जो भिन्नता है वह स्पष्ट न होती। अतएव मध्यम मार्ग को अंगीकार करना ही उचित है।

अगर यह कहा जाय कि इस प्रकार पृथक्-पृथक नमस्कार करने से क्या बोध होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि अरिहंत भगवान् को नमस्कार करने के फल के बराबर साधु को नमस्कार करने का फल नहीं होता है। अरिहंत को नमस्कार करने का उत्कृष्ट फल होता है। जैसे मनुष्य मात्र में राजा भी सम्मिलित है, परन्तु सामान्य मनुष्य को नमस्कार

करने से, राजा को नमस्कार करने का फल नहीं मिलता। अरिहंत भगवान् राजा के समान हैं और साधु उनकी परिषद् के सदस्य हैं। इस कारण 'नमो अरिहंताणं' पद न रख कर यदि 'नमो सव्वसाहूणं' पद ही रक्खा जाता तो अरिहंत भगवान् को नमस्कार करने के उत्कृष्ट फल की प्राप्ति न होती। अतएव अरिहंतों को और साधुओं को अलग-अलग नमस्कार किया गया है।

शंका—अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों की आत्मविशुद्धि अधिक है। अरिहंत सिर्फ चार घाति-कर्मों का क्षय करते हैं और सिद्ध आठों ही कर्मों का। अरिहंत सशरीर होते हैं सिद्ध अशरीर। इस प्रकार अरिहंत की अपेक्षा सिद्ध का पद उच्चतर है। फिर यहाँ नमस्कार मंत्र में प्रथम अरिहंतों को और उसके पश्चात् सिद्धों को नमस्कार क्यों किया गया है?

समाधान—यह सत्य है कि अरिहंतों की अपेक्षा सिद्धों की आत्मिक विशुद्धता उच्च श्रेणी की होती है, मगर सिद्ध संसार से अतीत, अशरीर, इन्द्रिय-अगोचर हैं। उनके स्वरूप का ज्ञान हमें कैसे हुआ? हमें सिद्धों का अस्तित्व किसने बताया है? अरिहंतों को पहचानने से ही हम सिद्धों को पहचान सकते हैं; तथा अरिहंत भगवान् ही सिद्धों की सत्ता प्रकट करते हैं। अतएव सिद्धों के स्वरूप का ज्ञान अरिहंतों के अधीन होने से अरिहंत भगवान् प्रधान कहलाते हैं। वे आसन्न उपकारक होने के कारण भी प्रधान हैं।

इसके अतिरिक्त जब धर्म-तीर्थ का विच्छेद हो जाता है तब अरिहंत तीर्थंकर ही तीर्थ की स्थापना करते हैं। वही महापुरुष हमें सिद्ध बनने का मार्ग बतलाते हैं। इस प्रकार

हमारे ऊपर अरिहंतों का विशिष्ट उपकार होने के कारण पहले अरिहंतों को ही नमस्कार किया जाता है।

शंका—अगर उपकारी को प्रथम नमस्कार करना उचित है तो सबसे पहले आचार्य को नमस्कार करना चाहिए, फिर अरिहंत को। क्योंकि अरिहंत भगवान् की पहचान आचार्यों ने ही हमें कराई है। यहाँ ऐसा क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—इस शंका का समाधान यह है कि आचार्य स्वतंत्रभाव से अर्थ का निरूपण नहीं कर सकते। अरिहंत भगवान् द्वारा उपदिष्ट अर्थ का निरूपण करना ही आचार्य का कर्त्तव्य है। अपनी कल्पना से ही वस्तु का विवेचन करने वाला आचार्य नहीं कहला सकता। आचार्य अरिहंतों के कथन का शिष्यों की योग्यता के अनुसार संक्षेप या विस्तार करके प्ररूपणा करते हैं। इसके विरुद्ध अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ होने के कारण स्वतंत्र भाव से उपदेश देते हैं। उनका उपदेश मौलिक होता है और आचार्य का उपदेश अनुवाद रूप होता है। इस कारण आचार्य को प्रथम नमस्कार न करके अरिहंत को ही पहले नमस्कार किया गया है।

अथवा-आचार्य, उपाध्याय और साधु अरिहंत भगवान् की परिषद् रूप हैं। राजा को छोड़कर पहले परिषद् को नमस्कार नहीं किया जाता है। अतएव पहले अरिहंत भगवान् को नमस्कार किया गया है।
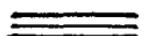
द्वितीय मंगलाचरण का विवेचन

श्री भगवती सूत्र के प्रथम मंगलाचरण-नमस्कार मंत्र का विवेचन किया चुका है। शास्त्रकार ने दूसरा मंगलाचरण इस प्रकार किया है-

नमो बंभीए लिवीए।

अर्थात्-ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह मंगलाचरण आधुनिक लोगों की दृष्टि से है, प्राचीन काल वालों के लिए नहीं। क्योंकि इन आगे वाले दोनों मंगलों के संबंध में टीकाकार लिखते हैं कि जब साक्षात् केवली भगवान् नहीं होते तब श्रुत ही उपकारी होता है।

श्रुत के दो भेद हैं—द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। अक्षर विन्यास रूप अर्थात् लिपिबद्ध श्रुत द्रव्य श्रुत कहलाता है। इसी लिये यहाँ कहा गया है—'नमो बंभीए लिविए' अर्थात ब्राह्मी लिपी को नमस्कार हो।

लिपि का अर्थ क्या है? इस संबंध में आचार्य कहते हैं कि पुस्तक आदि में लिखे जाने वाले अक्षरों का समूह लिपि कहलाता है।

लिपि कहने से कौन-सी लिपि समझनी चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि नाभितनय भगवान् ऋषभ-

देवने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से जो लिपि सिखाई वह ब्राह्मी लिपि कहलाती है। यहाँ उसी लिपि का अर्थ समझना चाहिए। इस विषय में प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है।

लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं।

अर्थात् - जिनेन्द्र भगवान्-ऋषभदेव ने लेख रूप लिपि का विधान दाहिने हाथ से ब्राह्मी को बतलाया-सिखाया। इसी कारण वह लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस पद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि-लिपि स्थापना रूप है। यहाँ अक्षर रूप स्थापना को गणधरों ने भी नमस्कार किया है, फिर आप स्थापना को नमस्कार क्यों नहीं करते? अगर स्थापना रूप अक्षरों को नमस्कार किया जाता है तो फिर मूर्त्ति को नमस्कार करने में क्या आपत्ति है?

इस प्रश्न का समाधान करने से पहले एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह है कि टीकाकार आचार्य पहले कह चुके हैं कि द्रव्य मंगल एकान्त एवं आत्यन्तिक मंगल नहीं है। अतएव द्रव्यमंगल का परित्याग कर भावमंगल को जो एकान्त मंगल रूप है, ग्रहण करते हैं। इस कथन के अनुसार भाव-मंगल किया भी जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जिन्होंने द्रव्य का त्याग किया वह स्थापना पर कैसे आगये? जब द्रव्यमंगल ही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल नहीं है तो स्थापना एकान्त मंगल रूप कैसे है?

जिस शास्त्र में द्रव्य मंगल को त्यागने की बात लिखी है उसी में लिपि को नमस्कार करने की बात भी लिखी है।

यह दोनों लेख परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। अगर शास्त्र में परस्पर विरोधी विधान नहीं हो सकते तो विचारना चाहिये कि यहाँ आशय क्या है ? इन लेखों में क्या रहस्य छिपा है ?

गणधरों ने लिपि को नमस्कार किया है। यह कथन समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गणधरों ने सूत्र को लिपि-बद्ध नहीं किया है। जब उन्होंने सूत्रों को लिखा ही नहीं तब वह लिपि को नमस्कार क्यों करेंगे ? इस विषय में टीकाकार भी मध्यस्थ भाव से स्पष्ट कहते हैं कि लिपि के लिए किया गया यह नमस्कार इस काल के जन्मे हुए लोगों के लिए है। इस कथन से यह सिद्ध है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नहीं किया है। किन्तु सूत्र के लिखने वाले किसी परम्परा के अनुयायी ने लिपि को नमस्कार किया है।

पहले समय में सूत्र लिखे नहीं जाते थे। वरन् कण्ठस्थ किये जाते थे। गुरू के मुख से सुनकर शिष्य सूत्रों को याद कर लेता था और वह शिष्य फिर अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देता था। इसी कारण शास्त्र का 'श्रुत' नाम सार्थक होता है। प्राचीन काल में कंठस्थ कर लेने की मेधा शक्ति प्रबल होती थी, वे प्रमादी नहीं थे अथवा आरंभ का विचार करके सूत्र लिखने की परम्परा नहीं चली थी। जब लोग प्रमादी होकर श्रुत को भूलने लगे, तब आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने, वीरनिर्वाण संवत ९८० में सूत्रों को लिपिबद्ध करवाया।

इससे स्पष्ट है कि पहले जैन शास्त्र लिखे नहीं जाते थे। जब शास्त्र लिखे ही नहीं जाते थे, सूत्र लिपि रूप में आये ही नहीं थे, तब लिपि को नमस्कार करने

की बात किस प्रकार संगत मानी जा सकती है ? अतएव यह कथन भी सत्य नहीं है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि गणधरों ने सूत्र नहीं लिखे तो क्या हुआ ? लिपि तो गणधरों के समय में भी विद्यमान थी। जब लिपि उस समय प्रचलित थी तो उसे नमस्कार किया हो, यह संभव क्यों नहीं है ?

यह आशंका ठीक नहीं है। जो लोग स्थापना को नमस्कार करते हैं वे भी उसी स्थापना को नमस्कार करते हैं जिसमें नमस्करणीय—पूज्य—की स्थापना की गई हो। मात्र स्थापना स्वतः पूज्य है, ऐसा कोई भी नहीं मानता। ऐसी स्थिति में लिपि रूप स्थापना में, जब नमस्करणीय श्रुत लिखा नहीं गया था तब किसको उद्देश्य करके लिपि को नमस्कार किया गया होगा ? तात्पर्य यह है कि जैसे मूर्त्तिपूजक भाई मूर्त्ति को नमस्कार करते हैं सो मूर्त्ति के ही उद्देश्य से नहीं वरन् वह मूर्त्ति जिसकी है उसे उद्देश्य करके नमस्कार करते हैं। अगर मूर्त्ति के ही उद्देश्य से नमस्कार करें तब तो संसार की समस्त मूर्त्तियों को, फिर वह किसी की ही क्यों न हो, नमस्कार करना होगा। इसी प्रकार लिपि स्थापना रूप है। स्थापनावादियों के लिए भी वह स्वयं तो नमस्कार करने योग्य है नहीं, श्रुत को उद्देश्य करके ही वे उसे नमस्कार कर सकते थे, पर उस समय श्रुत लिपि बद्ध ही नहीं था। ऐसी स्थिति में लिपि को नमस्कार करने का उद्देश्य क्या हो सकता है ? अगर लिपि स्वयमेव नमस्कार करने योग्य मानी जाय तो प्रत्येक लिपि नमस्कार करने योग्य माननी होगी। लिपि

अठारह प्रकार की है। उस में लाट लिपि है, तुर्की लिपि है, यवन लिपि है, और राक्षसी लिपि भी है। यदि गणधरों ने लिपि को ही नमस्कार किया है, ऐसा माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि तुर्की एवं यवन लिपि भी नमस्कार करने योग्य हैं। इन लिपियों को नमस्कार करने योग्य मान लिया जाय तो यवन आदि के देवों को भी नमस्कार करने योग्य मानना पड़ेगा।

तात्पर्य यह है कि गणधरों ने लिपि को नमस्कार नहीं किया है, क्योंकि लिपि को नमस्कार करने का निमित्त श्रुत उस समय लिपि रूप में नहीं था। श्रुत के लिपिबद्ध हो जाने के पश्चात् अर्थात् वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के अनन्तर, आधुनिक लोगों की दृष्टि से ही किसी ने यहाँ लिपि को नमस्कार किया है। टीकाकार ने भी यह लिखा है कि आधुनिक मनुष्यों के लिये श्रुत उपकारी है, इस लिये लिपि को नमस्कार किया है।

शब्द नय के विचार के अनुसार शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। ब्राह्मी लिपि भगवान् ऋषभदेव ने सिखाई है, अतः ब्राह्मी लिपि को नमस्कार करना अभेद-विवक्षा से भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करना है, क्योंकि वह उस लिपि के कर्त्ता हैं। जैसे-शब्द नय के अनुसार पाहली बनाने वाले का जो उपयोग है वही पाहली है। इस प्रकार लिपि के नमस्कार द्वारा भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया गया है। अगर लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरों को नमस्कार करना लिया जायगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

शास्त्र की मांगलिकता

प्रकृत शास्त्र की आदि में नमस्कार मंत्र द्वारा और ब्राह्मी लिपि द्वारा जो मंगल किया गया है उसके सम्बन्ध में यह आशंका हो सकती है कि-शास्त्र के लिये जो मंगल किया गया है उससे प्रकट है कि यह भगवती सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है। क्योंकि जो स्वयं मंगल रूप न हो उसी को मंगल रूप बनाने के लिये मंगल किया जाता है। जो स्वयं ही मंगल रूप हो उसके लिए मंगल की आवश्यकता ही क्या है ? संसार में भी सफेद को सफेद और चिकने को चिकना करना व्यर्थ माना जाता हैं। किये को करने से लाभ ही क्या हैं ? अतएव यदि भगवती सूत्र मंगलरूप है तो इस के लिए मंगल करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु यहाँ मंगल किया गया है अतएव यह साबित होता है कि प्रस्तुत शास्त्र मंगल रूप नहीं है।

कदाचित् शास्त्र को मंगल रूप माना जाय और फिर भी उसके लिए पृथक् मंगल किया जाय-अर्थात् यह कहा जाय कि शास्त्र स्वयं मंगलमय है फिर भी शास्त्र के लिए मंगल किया गया है, तो अनवस्था दोष आता है।

अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते-करते कहीं अन्त न आने को अनवस्था दोष कहते हैं। यहाँ यही दोष आता है। शास्त्र स्वयं मंगल है, फिर भी उसे मंगल ठहराने के लिए अलग दूसरा मंगल किया गया है, तो वह दूसरा मंगल स्वयं मंगल रूप है फिर भी उसे मंगल ठहराने के लिए तीसरा मंगल करना चाहिए। तीसरे मंगल को मंगल

रूप ठहराने के लिए चौथा और चौथे को मंगल रूप ठहराने के लिए पाँचवाँ मंगल करना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त मंगलों की कल्पना करते-करते कहीं अन्त न आवेगा और प्रकृत शास्त्र के आरंभ होने का अवसर भी न आ सकेगा।

कदाचित् मंगल करने वाला ऐसा मानता हो कि शास्त्र के लिए जो मंगल किया गया है, उस मंगल को मंगल रूप ठहराने के लिए फिर दूसरा मंगल नहीं किया है, इस कारण अनवस्था दोष नहीं आता। ऐसा मानने पर अन्य दोष आते हैं। जैसे शास्त्र को मांगलिक बनाने के लिए अलग मंगल किया है, किन्तु अनवस्था दोष के भय से मंगल को मांगलिक बनाने के लिए दूसरा मंगल नहीं किया तो जैसे मंगल रूप शास्त्र पृथक् मंगल के बिना अमंगल रूप गिना जाता है उसी प्रकार शास्त्र के लिए किया हुआ मंगल भी पृथक् मंगल के अभाव में अमंगल रूप ठहरता है। तात्पर्य यह है कि अनवस्था दोष स्वीकार न करने पर भी न्याय की समानता को देखते हुए यह बात तो माननी ही होगी कि जैसे मंगल रूप शास्त्र भी बिना मंगल के मंगल रूप नहीं बनता, उसी प्रकार शास्त्र को मंगल रूप बनाने के लिए किया हुआ मंगल भी, दूसरे मंगल के अभाव में मंगल रूप नहीं हो सकेगा। जब मंगल स्वयं अमंगल रूप होगा तो उससे शास्त्र मंगल रूप कैसे बन सकता है?

कदाचित् शास्त्र को मंगल रूप माना जाय और शास्त्र के लिए किये हुए मंगल को भी-बिना अन्य मंगल के मंगल माना जाय अर्थात् शास्त्र को और शास्त्र के लिए किये गये मंगल को समान रूप से मंगल रूप माना जाय तो फिर मंगलाभाव

दोष आता है। क्योंकि आप यह स्वीकार करते हैं कि शास्त्रमंगल दूसरे मंगल के बिना मंगल रूप नहीं होता। जब शास्त्र मंगल दूसरे मंगल के बिना, मंगल रूप नहीं होता तो यह दूसरा मंगल भी तीसरे मंगल के बिना मंगलरूप कैसे होगा? जब तीसरे मंगल के अभाव में दूसरा मंगल, अमंगलरूप है, तो शास्त्रमंगल भी अमंगलरूप ही सिद्ध होगा। इस प्रकार स्पष्ट रूप से अमंगल दोष होता है।

इस तर्क का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि-शास्त्र स्वतः मंगल स्वरूप है, फिर भी उसके लिए जो मंगल किया गया है सो इसलिए कि शिष्यों की बुद्धि में मंगल का ग्रहण हो जाय। शिष्यगण शास्त्र को मंगल रूप समझ सकें, इस उद्देश्य से यहाँ मगल किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ पुरुषों के आचार की परिपाटी का पालन करने के लिए भी मंगलाचरण किया जाता है। अतएव न तो यहाँ अनवस्था दोष के लिए अवकाश है, न अमंगल आदि अन्य किसी दोष के लिए।

शास्त्र के आरंभ में चार बातें बताने की प्रतिज्ञा की गई थी-(१) मंगल (२) अभिधेय (३) फल (४) एवं संबंध। इनमें से मंगल का निरूपण किया जा चुका है। और शास्त्र के विभिन्न नामों का निर्देश करके शास्त्र का अभिधेय भी बतलाया जा चुका है। अर्थात् पहले इस शास्त्र के विवाहपरणत्ति, विआहपरणत्ति, भगवती आदि नामों का वर्णन किया गया है सो उन्हीं नामों से यह प्रकट हो जाता है कि प्रकृत सूत्र का अभिधेय क्या है किस विषय का इस शास्त्र में वर्णन किया गया है। फल और सम्बन्ध, यह दो बातें शेष रहती हैं।

इस शास्त्र का फल क्या है। इसके अध्ययन-अध्यापन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? इस प्रश्न का समाधान शास्त्र के नाम से ही हो जाता है। जिसका नाम 'अमृत' है, उसका फल मृत्यु तो हो नहीं सकता। इसी प्रकार प्रस्तुत शास्त्र के नाम से ही फल का ज्ञान हो जाता है। नाम से फल का ज्ञान किस प्रकार होता है, यह आगे बतलाया जाता है।

फल दो प्रकार का होता है-(१) अनन्तर (साक्षात्) फल और (२) परम्परा फल। इस शास्त्र में श्री गौतम स्वामी आदि के द्वारा पूछे हुए विविध अर्थों की व्याख्या की गई है। यह व्याख्या ही इस शास्त्र का अभिधेय है। अभिधेय संबंधी अज्ञान दूर होकर उसका ज्ञान हो जाना ही इस शास्त्र का साक्षात् फल है। अर्थात् शास्त्र में जिन जिन बातों का वर्णन किया गया है, उन बातों का ज्ञान हो जाना इस शास्त्र के अध्ययन का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन से जो साक्षात् फल अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञान का फल परम्परा में मोक्ष है। अतएव इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष है।

जिस बीज का अंकुर भी प्यारा लगता है, वह बीज यदि अच्छी भूमि में बोया जायगा तो परम्परा से वह मधुर फल देगा। इसी प्रकार इस ज्ञान को निर्मल अन्तःकरण में बोने से, परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस शास्त्र का परम्परा फल मोक्ष ही क्यों बतलाया गया है? धन आदि सांसारिक वैभव परम्परा फल क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि यह सूत्र आप्त के वचन हैं। जो सर्वज्ञ और यथार्थ वक्ता होता है वही आप्त कहलाता है। आप्त उसी समय होता है जब मोक्ष के विषय में मोक्ष को

लक्ष्य करके ही, उपदेश देता है। क्योंकि मोक्ष ही सच्चा सुख है, मोक्ष ही आत्मा का असली वैभव है। धन आदि अज्ञान के कारण सुख रूप प्रतीत होते हैं, वस्तुतः वे दुःख के कारण हैं। जो सुख पर द्रव्याश्रित होता है वह सुख नहीं, सुखाभास है; क्योंकि पर द्रव्य का संयोग अनित्य है। सच्चे आप्त जगत् के जन्म, जरा, मरण से आर्त्त प्राणियों को सच्चे सुख का ही मार्ग प्रदर्शित करते हैं। अतः उनके द्वारा प्ररूपित आगम का परम्परा फल सांसारिक वैभव नहीं वरन् मोक्ष ही होता है। सांसारिक वैभव मोक्ष की तुलना में इतना तुच्छ है कि अगर उसकी प्राप्ति हो भी, तब भी वह किसी गिनती में नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि शास्त्र में स्वर्ग-नरक का भी वर्णन है। स्वर्ग-नरक के भेद आदि का भी वर्णन है। अगर आप मोक्ष के अतिरिक्त स्वर्ग आदि का भी उपदेश नहीं देते तो स्वर्ग आदि के वर्णन की क्या आवश्यकता थी?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग-नरक आदि का वर्णन पुण्य और पाप का फल बतलाने के लिए किया गया है। पुण्य-पाप का फल बतलाकर अन्त में दोनों से अतीत होने का ही उपदेश दिया है। इस प्रकार मोक्ष का विवेचन करने के लिए ही स्वर्ग आदि का वर्णन शास्त्र में पाया जाता है।

कुछ लोगों को यह पशोपेश होता है कि स्वर्ग और नरक हमें दिखाई नहीं देता, तब उन पर विश्वास किस प्रकार किया जाय? यही बात अहमदनगर के एक वकील ने मुझसे इस प्रकार पूछी थीः—'अगर हम स्वर्ग, नरक को स्वीकार न करें तो क्या हानि है?'

मैंने कहा—अगर स्वर्ग-नरक स्वीकार कर लें तो क्या हानि है ?'

वकील बोले-' हमने देखे नहीं, इसीसे स्वीकार करने में संकोच होता है ?'

मैंने पूछा—' स्वर्ग-नरक नहीं हैं, यह तो आपने देख लिया है ?'

वकील—' नहीं ।'

मैं—फिर आपकी बात सही और उन सर्वज्ञ-ज्ञानियों की बात झूठी, यह क्यों ? ज्ञानियों को झूठा बनाने का दोष तुम्हें लगता है या नहीं ?

तात्पर्य यह है कि ज्ञानियों के वचन पर प्रतीति करके कोई हानि नहीं उठा सकता। कदाचित् ज्ञानी स्वर्ग-नरक का स्वरूप बतलाकर किसी प्रकार का प्रलोभन देते, तब तो उनके वचन पर अप्रतीति करने का कारण मिल सकता था, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया है । उन्होंने पुण्य-पाप का फल बतलाते हुए स्वर्ग-नरक के स्वरूप का दिग्दर्शन करा दिया है और दोनों से परे हो जाने का उपदेश दिया है। मान लीजिए, एक जौहरी ने धोखे में आकर खोटा नग खरीद लिया, तत्पश्चात् उसे अपनी भूल मालूम हुई। वह जौहरी सरलभाव से दूसरे जौहरियों को वह खोटा नग बतलाकर कहता है कि 'देखिए' इस रूप रंग का नग भी खोटा होता है। आप लोग सावधान रहें। क्या इस प्रकार सावधान करने वाला जौहरी अविश्वास के योग्य है ? नहीं। अगर जौहरी अपने खोटे नग को सच्चे नग के भाव में बेचने का प्रयत्न करता है तो अवश्य

दोष का पात्र है, मगर नहीं खरीदने के लिए सावधान करने वाला जौहरी जरूर विश्वास का भाजन है । इसी प्रकार ज्ञानियों ने स्वर्ग-नरक बताकर उनके लिए लालच दिया होता तो कदाचित् उन पर अविश्वास भी किया जाता, मगर उन्होंने तो दोनों को त्यागने का ही उपदेश दिया है । ज्ञानीजन स्पष्ट स्वर में कहते हैं कि–पुण्य, ऋद्धि, सुख आदि में मत भूलना । यह सब झूठा है । मृग-तृष्णा है । मोह है । सच्चा सुख मोक्ष म ही है । उसीका साधन करने में कल्याण है ।

जब ज्ञानियों ने इस प्रकार कहकर हमें सावचेत किया ह, तब उनके वचनों पर अविश्वास करने का कोई भी कारण नहीं रहता ।

यहां तेरहपंथी भाई प्रश्न कर सकते हैं कि हम लोग पुण्य और पाप दोनों का ही त्याग करते हैं, तो उसमें क्या हर्ज है ? ऐसा कहने वालों को यह विचारना चाहिए कि पहले शुभ का त्याग करना उचित है या अशुभ का ? जब शुभ और अशुभ-दोनों का एक साथ त्याग होना सम्भव नहीं है, तब पहले अशुभ को त्यागना ही उचित कहा जा सकता है । अशुभ पाप को न त्याग करके शुभ पुण्य का त्याग कर देना उचित नहीं है ।

उदाहरण के लिए–एक मनुष्य अपनी भुजाओं के बल से नदी पार करना चाहता है । पर भुजाओं के बल से वह नदी पार नहीं कर सकता । इस कारण उसने नाव का आश्रय लिया । किनारे पहुँचकर उसे नाव त्यागनी ही पड़ेगी । नाव त्यागे बिना वह इच्छित स्थान पर नहीं पहुँच सकता । लेकिन वह मनुष्य अगर यह सोचता है कि जब पहले पार पहुँचकर

नौका त्यागनी ही पड़ेगी तो पहले से ही उसे क्यों ग्रहण करूँ? ऐसा सोचकर वह नदी के प्रबल प्रवाह में कूद पड़ता है तो क्या वह विवेकशील कहलाएगा? इस अविवेक का फल आत्महनन के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

रेल पर आरूढ़ होकर लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं; परन्तु इच्छित स्टेशन आने पर रेल को त्याग देते हैं या नहीं? अगर न त्यागें तो कहीं के कहीं जा पहुँचेंगे। इस प्रकार बहुत दूर के सफर के लिए रेल का सहारा लेना आवश्यक समझा जाता है और फिर उसका त्यागना भी आवश्यक समझा जाता है। बिना त्यागे अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते।

इसी प्रकार पाप का नाश करने के लिए पहले पुण्य का आश्रय लिया जाता है और जब पाप का नाश हो जाता है तब पुण्य भी त्याज्य हो जाता है। दोनों का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष मिलता है। पुण्य तभी उपादेय माना गया है जब मोक्ष की साक्षात् साधना न हो सके, मगर अन्तिम कक्षा तक पुण्य में ही पड़े रहने का उपदेश नहीं दिया गया है।

इस प्रकार भगवती सूत्र के सुनने के दो भेद हैं। अज्ञान मिट जाना साक्षात् फल है और मोक्ष प्राप्ति होना परम्परा फल है। इस प्रकार फलका विवेचन हुआ।

अब शेष रहा सम्बन्ध। सो 'इस शास्त्र का प्रयोजन यह है' यही सम्बन्ध है। अथवा यों समझना चाहिए कि प्रकृत शास्त्र में जिन अर्थों की व्याख्या की गई है वह अर्थ वाच्य हैं और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध भी यहाँ विद्यमान है।

सूत्र के आरम्भ में आचार्य ने चार बातें बताने की प्रतिज्ञा की थी। वह चारों बातें बतला दी गई हैं। इसके अनन्तर आचार्य कहते हैं कि-इस शास्त्र में सौ से भी अधिक अध्याय हैं। अध्याय कहिए या शतक कहिए, एक ही बात है। अन्य शास्त्रों के विभाग अध्ययन या अध्याय कहलाते हैं, इस शास्त्र के शतक कहलाते हैं। इस शास्त्र में दस हजार उद्देशक हैं। इस में छत्तीस हज़ार प्रश्न और दो लाख अट्ठासी हजार पद हैं।

यद्यपि शास्त्र का यह परिमाण शास्त्र में ही उपलब्ध होता है, फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यह परिमाण उस समय का है, जब भगवान ने उसका उपदेश दिया था। उस समय उस शास्त्र के उतने ही उद्देशक और पद थे। किन्तु जब यह लिपिबद्ध हुआ तब का परिमाण निराला है।

प्रत्येक अध्याय-शतक-को सरलता से समझने के लिए और सुख-पूर्वक धारण करने के लिए विभक्त करके उद्देशकों में बांट दिया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य जब शास्त्र पढ़ाते थे तब उपधान अर्थात् तप कराते थे। यह प्रथा अब भङ्ग हो गई है। परन्तु प्राचीन काल में यह नियम था कि अमुक उद्देशक को पढ़ते समय इतनी तपस्या की जाय। तात्पर्य यह है कि अध्याय के अवान्तर विभाग उद्देशक कहलाते हैं। आचार्य तप के विधान के साथ शिष्य को जो उपदेश-आदेश दें कि इतना पढ़ो, उसी का नाम उद्देशक है। जैसे अन्यान्य ग्रन्थों में पाठ या प्रकरण होते हैं, वैसे ही इस शास्त्र में उद्देशक हैं। इनके उद्देशकों के होने से शास्त्र का अध्ययन करने में सुभीता होता है।

शास्त्रारम्भ

प्रथम शतक की संग्रहणी गाथा

रायगिहचलणादुक्खे, कंखपओसे य पगइपुढवीओ।
जावंते नेरइए, बाले गुरूए य चलणाओ ॥

इस गाथा में श्रीभगवती सूत्र के प्रथम शतक के अन्तर्गत दस उद्देशकों का नाम-निर्देश किया गया है। दस उद्देशक इस प्रकार है—

(१) चलन—राजगृह नगर में श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलन' के विषय में प्रश्न किया है और भगवान् ने उसका उत्तर दिया है। इस प्रश्न में 'चलन' शब्द पहले आया है, अतएव प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का नाम चलन है।

(२) दुःख—दूसरे उद्देशक का नाम दुःख है। इसमें यह प्रश्न किया गया है कि—हे भगवन्! जीव अपने किये दुःख को भोगता है? इत्यादि।

(३) कांक्षा प्रदोष—तीसरा उद्देशक कांक्षाप्रदोष है, क्योंकि उसमें कांक्षा-मोहनीय के विषय में प्रश्नोत्तर हैं।

(४) प्रकृति—चौथा उद्देशक प्रकृति है। इसमें कर्म-प्रकृतियों के संबंध में प्रश्नोत्तर हैं।

(५) पृथिवी—पाँचवें उद्देशक में पृथ्वी संबंधी वर्णन होने से उस उद्देशक का नाम 'पृथिवी' है।

(६) यावत्—छठे उद्देशक में यावत्-जितनी दूर से सूर्य डूबता-निकलता दिखाई देता है, आदि प्रश्नोत्तर होंगे। अतएव इस उद्देशक का नाम यावत् है।

(७) नेरयिक—सातवें उद्देशक में नारकियों के विषय में प्रश्नोत्तर होने से उसका 'नेरयिक' नाम है।

(८) बाल—आठवें उद्देशक में बाल जीव संबंधी प्रश्न हैं, अतः वह 'बाल' नामक उद्देशक कहलाता है।

(९) गुरूक—नौवें उद्देशक में गुरू कर्म संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। जैसे-जीव भारी, हल्का कैसे होता है, इत्यादि। इसीलिए इस उद्देशक का नाम 'गुरूक' है।

(१०) चलना—दसवें उद्देशक में, 'जो चल रहा है वह चला नहीं' इस संबंध के प्रश्नोत्तर होंगे। इस कारण उसका नाम 'चलना' है।

यह प्रथम शतक के उद्देशकों के संग्रह-नाम हैं। इन संग्रह-नामों को सुनकर शिष्य ने श्रीसुधर्मा स्वामी से पूछा-कि सर्वप्रथम गौतम स्वामी ने चलन प्रश्न पूछा है। मगर वह प्रश्न और उसका उत्तर क्या है? अनुग्रह करके विस्तार पूर्वक समझाइए। तब सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी को विस्तार से समझाने लगे।
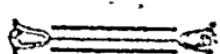
प्रथम उद्देशक का मंगल

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र की आदि में मंगल किया जा चुका है, फिर भी प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक की आदि में विशेष रूप से पुनः मंगल किया गया है। इस मंगल को करने का कारण यह नहीं है कि शास्त्र अमांगलिक है, अतएव मंगल करके उसे मांगलिक बनाया जाय। किन्तु शास्त्र मांगलिक है, इसी कारण यहाँ मंगल किया गया है। किसी की पूजा इस कारण नहीं की जाती है कि वह पूजा के अयोग्य है वरन् जो पूजा योग्य होता है उसी की पूजा की जाती है। जिस प्रकार पूजा के योग्य होने से पूजा की जाती है, उसी प्रकार मंगल के योग्य होने से सूत्र के लिए मंगल किया जाता है। श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं—

नमो सुअस्स

अर्थात् श्रुत भगवान् को नमस्कार हो।

जिसके आचारांग, सूत्रकृतांग, आदि बारह अंगरूप भेद हैं, अर्हन्त भगवान् ने अंग रूप जो प्रवचन किये हैं, ऐसे श्रुत को नमस्कार हो।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि इष्ट देव को नमस्कार करना मंगल कहा जा सकता है। श्रुत, इष्ट देव नहीं है। तब उसे नमस्कार क्यों किया गया है? श्रुत इष्ट देव की वाणी है। मगर प्रकृत श्रुत जिन इष्ट देव की वाणी है उन्हें नमस्कार न करके श्रुत को नमस्कार करने का क्या अभिप्राय है? क्या इष्ट देव की अपेक्षा इष्ट देव की वाणी को नमस्कार करना अधिक महत्वपूर्ण और अधिक फल दायक है? अगर ऐसा न हो तो फिर इष्ट देव को छोड़कर श्रुत को नमस्कार करने में क्या उद्देश्य है?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि श्रुत भी इष्ट देव रूप ही है।

प्रश्न—श्रुत इष्ट देव किस प्रकार है ?

उत्तर—इसलिए कि अर्हन्त भगवान् भी श्रुत को नमस्कार करते हैं।

प्रश्न—क्या अर्हन्त की वाणी को अर्हन्त ही नमस्कार करते हैं ?

उत्तर—अर्हन्त जैसे सिद्धों को नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त को भी नमस्कार करते हैं। इसी हेतु से श्रुत को भी इष्ट देव कहा गया है।

प्रश्न—अर्हन्त श्रुत को नमस्कार करते हैं, इस कथन में कोई प्रमाण है ?

उत्तर—हाँ, प्रमाण क्यों नहीं है। अर्हन्त भगवान् जब समवसरण में विराजते हैं तब कहते हैं।

णमो तित्थाय—नमस्तीर्थाय।

अर्थात् तीर्थ को नमस्कार हो।

इस कथन से प्रतीत होता है कि अर्हन्त श्रुत को भी नमस्कार करते हैं।

प्रश्न—तीर्थंकर तीर्थ को नमस्कार करते हैं तो श्रुत को नमस्कार करना कैसे कहलाया ?

उत्तर—असली तीर्थ श्रुत ही है। श्रुत में सम्पूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है। जिससे तिर जावे वही तीर्थ कहलाता है। यहां संसार-सागर से तिर जाने का अभिप्राय है। श्रुत का सहारा लेकर भव्य जीव भवसागर के पार पहुँचते हैं, अतएव श्रुत तीर्थ कहलाता है। इसी कारण अर्हन्त इसे नमस्कार करते हैं।

प्रश्न—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपने श्रुत को तीर्थ में अन्तर्गत कैसे कर लिया?

उत्तर—साधु, साध्वी और श्रावक-श्राविका तीर्थ नहीं है, ऐसी बात नहीं है। इनके तीर्थ होने का निषेध करना हमारे कथन का अभिप्राय नहीं है। साधु-साध्वी आदि चतुर्विध संघ भी तीर्थ कहलाता है और श्रुत भी तीर्थ कहलाता है। अर्हन्त भगवान् भाव रूप तीर्थ को नमस्कार करते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ रूपी तीर्थ को अर्हन्त नमस्कार नहीं करते हैं। यद्यपि चतुर्विध संघ भी तीर्थ कहलाता है, जैसे कि इसी भगवती सूत्र के बीसवें शतक में भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को भी तीर्थ कहा है, लेकिन अर्हन्त भगवान् जिस तीर्थ को नमस्कार करते हैं वह तीर्थ यह नहीं है।

तात्पर्य यह है कि प्रवचन को ही वास्तव में तीर्थंकर नमस्कार करते हैं और प्रवचन ही असली तीर्थ है। मगर संघ को लक्ष्य करके ही प्रवचन की प्रवृत्ति होती है, किसी वृक्ष आदि को लक्ष्य करके नहीं। इस कारण संघ भी तीर्थ कहलाता है।

प्रश्न—क्या चतुर्विध तीर्थ को भगवान् नमस्कार नहीं करते ?

उत्तर—गुण और गुणी में भिन्नता है। दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। गुणी को कल्प के अनुसार ही नमस्कार किया जाता है, पर गुण के सम्बन्ध में यह मर्यादा नहीं है। गुण को सर्वत्र नमस्कार किया जा सकता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र गुण हैं। ज्ञान को धारण करने वाला ज्ञानी, दर्शन को धारण करने वाला दर्शनी और चारित्र को धारण करने वाला चारित्री कहलाता है। चारित्र आदि गुण हैं और चारित्र आदि धारण करने वाला गुणी है। चारित्र धारण करने वाला चारित्री अपने कल्प का विचार करके किसी को नमस्कार करेगा, परन्तु गुण के सम्बंध में यह बात नहीं है। गुणी को नमस्कार करने में कल्प देखा जाता है, गुण को नमस्कार करने में कल्प नहीं देखा जाता। इस प्रकार अर्हन्त भगवान् गुण को ही नमस्कार करते हैं, न कि गुणी को अर्थात् साधु, साध्वी आदि को। गुण को नमस्कार करना भाव तीर्थ को नमस्कार करना ही कहलाता है।

प्रश्न—अर्हन्त अपने बनाये हुए श्रुत को नमस्कार क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तर—श्रुत, अर्हन्त भगवान् के परम केवल ज्ञान से उत्पन्न हुआ है, तथापि संसार में स्थित भव्य जीव इसी के सहारे तिरते हैं। अतएव श्रुत को भी इष्ट देव रूप ही समझना चाहिए।

क्षत्रिय अपनी तलवार को और वैश्य अपनी दुकान एवं बही को क्यों नमस्कार करते हैं ? इसी लिए कि उनकी

दृष्टि में वह मांगलिक हैं। यद्यपि तलवार और दुकान-बही आदि क्षत्रिय एवं वैश्य की ही बनाई या बनवाई हुई हैं, तथापि वह उनका सम्मान बढ़ाने वाली हैं। अपनी वस्तु का स्वयं आदर किया जायगा तो दूसरे भी उसका आदर करेंगे। तभी वह वस्तु आदरणीय समझी जायगी।

अर्हन्त भगवान् ने जो वचन कहे हैं, परम आदरणीय हैं। इसका प्रमाण यह है कि उन वचनों को स्वयं अर्हन्त भगवान् ने भी नमस्कार किया है। वीतराग होने के कारण अर्हन्त भगवान् अपना निज का उपकार तो कर ही चुके थे। उन्होंने जो उपदेश दिया वह दूसरों के उपकार के ही लिए दिया। मगर उपदेश दूसरों के लिए तभी उपकारक हो सकता है, जब उपदेष्टा स्वयं उसका पालन करे। इस लोक-मानस को दृष्टि के समक्ष रखकर ही अर्हन्तों ने श्रुत रूपी तीर्थ को नमस्कार किया है। अर्हन्त भगवान् वैसा ही आचरण करके भव्य जीवों के सामने आदर्श उपस्थित करते हैं, जिससे उनका कल्याण हो सके।

अर्हन्त, सिद्धों को नमस्कार करते हैं, सो इसलिए कि अन्य जीव सिद्धों को नमस्कार करके अपना हित-साधन करें। अर्हन्त भगवान् तो अपने अन्तराय कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर चुके हैं। अन्तराय कर्म के अभाव में उनके लिए कोई विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतएव विघ्न का उपशम करने के लिए अर्हन्त को, सिद्धों को नमस्कार करने की आवश्यकता नहीं है। सिद्धों को नमस्कार करने से होने वाले फल की भी अर्हन्तों को आवश्यकता नहीं है। फिर भी छद्मस्थ जीवों के सामने सिद्धों को नमस्कार करने का आदर्श

उपस्थित करने के हेतु ही अर्हन्त, सिद्ध भगवान् को नमस्कार करते हैं।

आशय यह है कि भगवतीसूत्र के प्रथम शतक की आदि में गणधर ने 'नमो सुअस्स' कह कर श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही श्रुत को नमस्कार किया है। इस प्रकार नमस्कार करने से श्रुत पर भव्य जीवों की श्रद्धा बढ़ेगी, भव्य जन श्रुत का आदर करेंगे और एक एक वचन को आदर के साथ सुनेंगे। इसी आशय से प्रेरित हो कर श्रुत को नमस्कार किया गया है।

प्रकृत शास्त्र का आरम्भ किस प्रकार हुआ है, यह आगे बतलाया जायगा।

मूल—तेणं कालेणं, तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था। वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था। सेणिए राया। चिल्लणा देवी।

संस्कृतच्छाया—तस्मिन् काले, तस्मिन् समये (तेन कालेन, तेन समयेन राजगृहं नाम नगरमभवत्। वर्णकः। तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहिरुत्तर-पौरस्त्ये दिग्भागे गुण-सिलकं नाम चैत्यमभवत्। श्रेणिको राजा। चिल्लणा देवी।

शब्दार्थ—उस काल और उस समय में राजगृह नामक नगर था। वर्णक। उस राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व के

दिग्भाग में अर्थात् ईशान कोण में गुणशिलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहां श्रेणिक राजा और चिल्लणा देवी रानी थी।

विवेचन-यहां सर्वप्रथम यह प्रश्न हो सकता है कि काल और समय दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। फिर यहां काल और समय का भिन्न-भिन्न उल्लेख क्यों किया गया है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यहां लौकिक काल और समय से अभिप्राय नहीं है। यहां लोकोत्तर काल और लोकोत्तर समय की विवक्षा की गई है। दोनों शब्दों के अर्थ में भेद भी है। जैसे लोकव्यवहार में सम्वत् और मिति दोनों का प्रयोग किया जाता है-दोनों के विना, सिर्फ सम्वत् या मिति मात्र लिखने से, पत्र या बही-खाता प्रामाणिक नहीं माना जाता; उसी प्रकार लोकोत्तर पक्ष में सम्वत् के स्थान पर काल और मिति के स्थान पर समय का प्रयोग किया गया है।

कहा जा सकता है कि लौकिक सम्वत् और मिति तो जगत्-प्रसिद्ध हैं पर लोकोत्तर काल और समय क्या हैं? इस का उत्तर यह है कि जैन शास्त्रों में तीन प्रकार के काल माने गये हैं हायमान, वर्द्धमान और अवस्थित। जिस काल में निरन्तर क्रमशः जीवों की अवगाहना, बल-वीर्य आदि की हानि-घटती होती जाती है वह हायमान काल कहलाता है। जिस काल में निरन्तर पूर्वोक्त बातोंकी वृद्धि होती जाती है वह वर्द्धमान काल कहलाता है और जिस काल में न हानि होती है, न वृद्धि होती है वह अवस्थित काल कहलाता है। हायमान और वर्द्धमान काल की प्रवृत्ति भरत, ईरवत क्षेत्र में होती है और अवस्थित काल की महाविदेहादि में।

वहां सदा प्रारम्भिक चतुर्थ काल के भाव वर्तते हैं यहां भरत क्षेत्र होने से-अवसर्पिणी उत्सर्पिणी की प्रवृत्ति होती है।

श्रीसुधर्मा स्वामी ने 'वह काल' कह कर हायमान काल अर्थात् अवसर्पिणी काल को सूचित किया है। अवसर्पिणी काल दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसी तरह उत्सर्पिणी काल अर्थात् वर्द्धमान काल भी दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का कहा गया है। दोनों कालों की (मिलकर) 'कालचक्र' संज्ञा है। एक कालचक्र बीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम का होता है। कालचक्र की यह कल्पना जैन शास्त्रों की ही नहीं है, मगर अन्य शास्त्रों में भी ऐसी ही कल्पना की गई है। ज्ञानियों ने काल के संबंध में बहुत सूक्ष्म विचार किया हैं। जैसे लोक में एक साल होता है, उसी प्रकार लोकोत्तर में चार कोड़ा कोड़ी सागरोपम का, तीन कोड़ा कोड़ी सागरोपम का, दो कोड़ा कोड़ी सागरोपम का, अथवा इससे कम का एक काल होता है।

ऊपर जिस हायमान और वर्द्धमान काल का उल्लेख किया गया है, वह यहां क्रमशः एक दूसरे के पश्चात् प्रवृत्त होता रहता है। हायमान अर्थात् अवसर्पिणी के पश्चात् वर्द्धमान अर्थात् उत्सर्पिणी, और उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणी काल प्रवृत्त होता है। नैसर्गिक नियम के अनुसार दोनों काल सदा प्रवृत्ति कर रहे हैं। इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल के छह-छह आरे हैं। प्रत्येक काल दश २ कोड़ा कोड़ी सागरोपम का होता है। इस समय अवसर्पिणी काल का पांचवां आरा है।

यह आरा इक्कीस हजार वर्ष का है। भगवान् महावीर स्वामी इस आरे के आरम्भ होने से पहले ही अर्थात् चौथे आरे में विचरते थे। उसी समय का यहां वर्णन है। अतएव 'उसकाल' का अर्थ है-वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चौथा आरा।

अवसर्पिणी काल का चौथा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम का होता है। इतने लम्बे काल में से कब का यह वर्णन समझा जाय? अतएव उस काल में विशेषता बतलाने के लिए यहाँ दो बातों का उल्लेख कर दिया है-भगवान् महावीर का और राजा श्रेणिक का। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वर्त्तमान अवसर्पिणी काल में और उसके चौथे आरे में भी, जब भगवान् महावीर विचरते थे और श्रेणिक नामक राजा था, उस समय में यह सूत्र बना है। अतएव समय का अर्थ हुआ--भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा की विद्यमानता का समय।

समय बतलाने के पश्चात् क्षेत्र भी बतलाना चाहिये अतएव यहां कहा गया है कि मगध देश में, राजगृह नामक विशाल नगर था। उस नगर में प्रस्तुत प्रश्नोत्तर हुए, जिससे शास्त्र की रचना हुई।

राजगृह नगर किस प्रकार का था? इस संबंध में सुधर्मा स्वामी ने कहा है कि उववाई सूत्र में, चम्पा नगरी का जो वर्णन किया गया है, वही वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् चम्पा नगरी के समान ही राजगृह नगर था।

पहले क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर था। राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर दूसरी जगह नगर बसाने का इरादा किया। उसने फल-फूल से समृद्ध एक चनक क्षेत्र देखकर उस स्थान पर 'चनकपुर' नगर बसाया। कालक्रम से उसे भी क्षीण मानकर, वन में एक अजेय वृषभ (बैल) देखकर उस स्थान पर 'ऋषभपुर' की स्थापना की। समय पाकर वह भी क्षीण हो गया। तब कुश (दूब) का गुल्म देखकर 'कुशाग्रपुर' नामक नगर बसाया। जब कुशाग्रपुर कई बार आग से जल गया, तब प्रसेनजित राजा ने 'राजगृह' नामक नगर बसाया।

राजगृह नगर को जैन साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने राजगृह में अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। 'पन्नवणा' सूत्र के अनुसार राजगृह नगर मगध देश की राजधानी था। महाभारत के सभा पर्व में भी, राजगृह को जरासंध के समय में मगध की राजधानी प्रकट किया गया है। राजगृह का दूसरा नाम 'गिरिव्रज' भी बतलाया गया है। वहां पांच पहाड़ों का उल्लेख भी पाया जाता है। जैन शास्त्रों में पांच पहाड़ों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—वैभार, विपुल, उदय, सुवर्ण और रत्नगिरी। इन्हीं से मिलते-जुलते, कुछ-कुछ भिन्न नाम वैदिक पुराणों में भी पाये जाते हैं।

राजगृह का वर्त्तमान नाम 'राजगिर' है। वह बिहार से लगभग तेरह मील दूर, दक्षिण दिशा में मौजूद है। जैन सूत्रों में राजगृह

से बाहर, उत्तर पूर्व में, नालंदा नामक स्थान का उल्लेख आता है। प्रसिद्ध नालंदा विद्यापीठ उसी जगह था।

इसी सूत्र में (भगवती में) दूसरे शतक के पांचवें उद्देशक में राजगृह के गर्म पानी के झरने का उल्लेख है। उसका नाम 'महा पोपतीरप्रभ' बतलाया गया है। चीनी यात्री फाहियान ने और ह्युएनत्सिंग ने गर्म पानी के झरने को देखा था, ऐसा उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रंथों में इस झरने का नाम 'तपोद' बतलाया गया है।

भगवती सूत्र में राजगृह नगर का वर्णन चम्पा नगरी के समान बतलाया गया है। चम्पा नगरी का वर्णन उववाई सूत्र में किया गया है। उस वर्णन से तत्कालीन नागरिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, अतएव उसका सार यहां उद्धृत किया जाता है:-

राजगृह नगर मनुष्यों से व्याप्त था। राजगृह के मार्ग की सीमा सैकड़ों और हजारों हलों द्वारा दूर-दूर तक जोती जाती थी। वहां की भूमि बढ़िया और उपजाऊ थी। वहाँ बहुसंख्यक मुर्गे और सांड थे। वह गन्ना, यव और शालि से भरपूर था। नगर में बैलों, भैसाओं और मेढ़ों की बहुतायत थी। वहां सुन्दर आकार वाले चैत्यों और सुन्दर युवतियों के सन्निवेशों की बहुलता थी। वहां घूसखोरों का, गँठकटों का, बलात्कार से प्रवृत्ति करने वाले भटों का (गुंडों का।) चोरों का और फँसाने वालों का नाम-निशान तक न था। वह नगर

क्षेम, निरुपद्रव रूप था। वहां भिक्षुओं को अच्छी भिक्षा मिलती थी। विश्वासीजनों के लिए शुभ आवास वाला, अनेक कुटुम्ब-पालकों से भरपूर, संतुष्ट और शुभ था। नट, नाचने वाले, रस्सी पर खेलने वाले, मल्ल, मुष्टि युद्ध करने वाले, विदूषक, (हँसोड़) पुराणीओं, कूदने वाले, रास गाने वाले, शुभ अशुभ बताने वाले, बड़े बांस पर खेल करने वाले चित्र दिखाकर भीख माँगने वाले, तूण नामक बाजा बजाने वाले, तूंबे की वीणा बजाने वाले, और अनेक ताल देने वाले राजगृह नगर में निवास करते थे।

राजगृह नगर आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका (बावड़ी) और पानी की क्यारियों (नहरों) के सौन्दर्य से समन्वित था। वह नन्दन वन के सामान प्रकाश वाला था। नगर के चारों ओर विशाल, गंभीर—गहरी, और ऊपर नीचे समान खोदी हुई खाई थी। वह नगर चक्र, गदा मुसंढि (शस्त्र विशेष) उरोह (छाती को हनन करने वाला शस्त्र) शतघ्नी (सौ को मारने वाली तोप) और एक साथ जुड़े हुए तथा छिद्ररहित किवाड़ों के कारण दुष्प्रवेश था। वह नगर वक्र धनुष की अपेक्षा भी अधिक वक्र किले से व्याप्त था। वह बनाये हुए और विभिन्न आकार वाले गोल कंगूरों से सुशोभित था। वह अट्टालिकाओं से, किले और नगर के बीच की आठ हाथ चौड़ी सड़कों से, किले और नगर के द्वारों से और तोरणों से

उन्नत एवं पृथक्-पृथक् राजमार्ग वाला था। उस नगर का सुदृढ़ परिध और इन्द्रकील चतुर शिल्पकारों द्वारा बनाया गया था। उसमें बाजार और व्यापारियों के स्थान थे और शिल्पकारों से भरा हुआ, निर्वृत, और सुखरूप था। वह नगर त्रिकोण स्थानों से तथा त्रिक (जहाँ तीन गलियाँ मिलें) चौक और चत्वर (जहाँ अनेक रास्ते मिलें) किराने की दुकान और विविध प्रकार की वस्तुओं से मंडित था। सुरम्य था। वहाँ का राजमार्ग, राजाओं से आकीर्ण था। अनेक बढ़िया-बढ़िया घोड़ों से, मत्त हाथियों से, रथ के समूहों से, शिविकाओं से और सुखपालों से वहाँ के राजमार्ग खचाखच रहते थे। यानों से तथा युग्मों से-दो हाथ की वेदिका वाले वाहनों से-युक्त थे। निर्मल एवं नवीन कमलिनियों से वहाँ का पानी सुशोभित था। वह नगर धवल और सुन्दर भवनों से सुशोभित था। ऊँची आँखों से देखने योग्य था। मन को प्रसन्नता देने वाला दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप था।

पूर्वकालीन नागरिक जीवन, आज जैसा नहीं था। प्राचीन वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय का नागरिक जीवन, आज के नागरिक जीवन से कहीं अधिक उन्नत, सम्पन्न, शान्तिपूर्ण और व्यस्तता से रहित था।

पहले के नागरिक ऋद्धि से सम्पन्न होने पर भी निरुपद्रव थे। राजा चाहे स्वचक्री हो या परचक्री, परन्तु प्रजा के साथ उसका सम्बन्ध ममतामय होता था। राजा की ओर से प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचने पाता था। इसका कारण केवल राजा की कृपालुता ही नहीं थी, वरन् प्रजा का वल भी था। उस समय की प्रजा शक्तिशाली थी। शक्तिशाली होने पर भी अगर उसमें गुंडापन होता तो वह आपस में ही लड़ मरती। पर ऐसा नहीं था। प्रजा में खूब शान्ति थी। इसी कारण प्रजा का जीवन उपद्रवहीन था। वास्तव में निर्वल प्रजा उपद्रवहीन नहीं हो सकती। निरूपद्रवता, शक्ति का फल है।

राजगृह नगर से बाहर, ईशान कोण में, गुणसिलक या गुणशील नामक चैत्यालय था। राजगृह में श्रेणिक राजा राज्य करता था और चेलना नामक उसकी रानी थी।

पहले कहा जा चुका है कि यह सूत्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी के लिए कहा था। इस संबंध में टीकाकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सुधर्मास्वामी के अक्षर तो सूत्र में देखे नहीं जाते, फिर कैसे प्रतीत हो कि यह शास्त्र सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी के प्रति कहा है? अथवा यह वही सूत्र है जो सुधर्मा स्वामी ने कहा था?

इस तर्क का स्वयं ही समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं—सब सूत्रों की वाचना सुधर्मा स्वामी द्वारा ही दी गई है। इसका प्रमाण यह है—

'तित्थं च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा।'

अर्थात्-सुधर्मा स्वामी का ही तीर्थ चला है। अन्य गणधरों के शिष्य परम्परा नहीं हुई है। सिर्फ सुधर्मा स्वामी के ही शिष्य प्रशिष्य हुए हैं।

अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को ही यह सूत्र सुनाया, यह कैसे मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि जम्बू स्वामी ही सुधर्मा स्वामी के पट्ट शिष्य थे और पट्ट शिष्य को संबोधन करके ही सूत्र कहा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुधर्मा स्वामी से ही तीर्थ चला यह तो ज्ञात हो गया, मगर सुधर्मा स्वामी ने ही यह सूत्र जम्बू स्वामी को सुनाया है, इसके विषय में क्या प्रमाण है? टीकाकार कहते हैं-इस विषय में यह प्रमाण है—

'जइ णं भंते! पंचमस्स अंगस्स विआह पण्णत्तीए समणेणं भगवया महावीरेणं अयमट्ठे पण्णत्ते; छट्ठस्स णं भंते! के अट्ठे पण्णत्ते?'

—नायाधम्मकहा।

यह ज्ञाता सूत्र की पीठिका का सूत्र है। इस में जम्बू स्वामी, सुधर्मा स्वामी से कहते हैं-(निर्वाण को प्राप्त) श्रमण

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित पाँचवाँ अंग भगवती सूत्र तो सुनाया, लेकिन छठे अंग – ज्ञाताधर्म कथा–का भगवान् ने क्या अर्थ बतलाया है ? (कृपा करके समझाइए)।

जम्बू स्वामी के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सुधर्मा स्वामी ने ही भगवती सूत्र जम्बू स्वामी को सुनाया था। इस कथन के प्रमाण से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भगवती सूत्र का उपदेश सुधर्मा स्वामी ने ही जम्बू स्वामी को सम्बोधन करके किया था।

टीकाकार कहते हैं प्रस्तावना के इस सूत्र को मूल टीकाकार ने सम्पूर्ण शास्त्र को लक्ष्य करके व्याख्यान किया है, परन्तु मैंने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक को लक्ष्य करके ही इसकी व्याख्या की है। इसका कारण यह है कि शास्त्रकार ने प्रत्येक शतक और प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में अनेक प्रकार से उपोद्घात किया है। जब अलग-अलग शतकों और उद्देशकों में अलग-अलग उपोद्घात पाया जाता है तो फिर यह उपोद्घात वाक्य सम्पूर्ण सूत्र को लक्ष्य करके क्यों समझना चाहिए ?

यहाँ टीकाकार ने एक बात और स्पष्ट की है। वह लिखते हैं कि-यद्यपि मूल टीकाकार ने मंगलाचरण संबंधी पदों की टीका नहीं की है, फिर भी हमने उनकी टीका करदी है। प्राचीन टीकाकार द्वारा इन पदों की टीका न करने का कोई खास कारण अवश्य रहा होगा। संभवतः उनके समय में यह पाठ ही न रहा हो।

पहले प्रस्तावना संबंधी जो सूत्र पाठ दिया गया है, उसके संबंध में एक शंका उठाई जा सकती है। वह यह कि-

पहले यह कहा जा चुका है कि प्रस्तुत सूत्र सुधर्मा स्वामी ने, जम्बू स्वामी को सुनाया था। साथ ही यह भी कहा गया है कि राजगृह नगर में यह सूत्र सुधर्मा स्वामी ने सुनाया था। जब राजगृह नगर में ही यह सूत्र सुनाया गया तो स्पष्ट है कि सूत्र सुनाने के समय राजगृह नगर विद्यमान था। मगर 'रायगिहे णामं णयरे होत्था' अर्थात् राजगृह नामक नगर था, इस भूत कालीन क्रिया से प्रतीत होता है कि सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर विद्यमान नहीं था। अगर उस समय विद्यमान होता तो सुधर्मा स्वामी 'रायगिहे णामं णयरे होत्था' के स्थान पर 'रायगिहे णामं णयरे अत्थि'—राजगृह नामक नगर है, ऐसा कहते। 'राजगृह नामक नगर था' ऐसा कहने से यह प्रतीत होता है कि राजगृह नगर पहले था—सूत्र सुनाते समय नहीं था। अगर सूत्र सुनाते समय राजगृह नगर नहीं था तो फिर राजगृह में यह शास्त्र कैसे सुनाया गया? अगर था तो उसके लिए 'होत्था' इस भूत कालीन क्रिया का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? 'अत्थि' (है) ऐसा वर्त्तमान काल संबंधी प्रयोग क्यों नहीं किया गया?

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं कि-सूत्र सुनाते समय भी राजगृह नगर विद्यमान था। फिर भी उसके लिए 'नगर था' इस प्रकार की भूत कालीन क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का कारण यह है कि यह अवसर्पिणी काल है। इस काल में क्रमशः हीनता होती जाती है। हीनता का बाह्यरूप किसी समयमें दृष्टिगोचर होताहै। किन्तु सूक्ष्म रूपमें प्रतिक्षण किंचित् हीनता हो रही है। अतएव भगवान् महावीर के समय में राजगृह नगर जिस ऋद्धि आदि से सम्पन्न था,

वह ऋद्धि आदि सुधर्मा स्वामी के समय में ज्यों की त्यों नहीं थी। यद्यपि भगवान् महावीर के समय में और सुधर्मा स्वामी द्वारा इस सूत्र की वाचना देने के समय में बहुत बड़ा अंतर नहीं था, तथापि थोड़े से समय में भी कुछ न्यूनता आ ही गई थी। इसी अभिप्राय से सुधर्मा स्वामी ने 'राजगृह नगर है' ऐसा न कहकर 'राजगृह नगर था' ऐसा कहा है।

इस अवसर्पिणी काल में, पहले शुभ भावों का जैसा प्रादुर्भाव था, वैसा आज नहीं है। लोग आज भी कहते हैं-'अब वह दिल्ली कहाँ है?' अर्थात् स्थान चाहे वही हो, नाम भी वही हो, पर रचना वह नहीं रही। इसी प्रकार सुधर्मास्वामी के कथन का अभिप्राय यह है कि भगवान महावीर के समय का राजगृह नगर जैसा था, अब वैसा नहीं है। इस अवस्था-भेद को सूचित करने के लिए ही उन्होंने भूत काल का प्रयोग किया है।

राजगृह नगर ऋद्धि और समृद्धि से भरपूर था। नगर के आसपास के ग्राम, नगर के महल, भवन आदि नगर की ऋद्धि में गिने जाते हैं और नगर धनधान्य से परिपूर्ण था, यह नगर की समृद्धि कहलाती है।

राजगृह नगर स्वचक्र और परचक्र के भय से रहित था। अर्थात् वहाँ के निवासी नागरिकों में ऐसे गुण मौजूद थे कि राजा चाहे स्वचक्री हो या परचक्री, वह प्रजा को सताने-दबाने की हिम्मत नहीं कर सकता था। वहाँ के नागरिक आलसी अथवा पुरुषार्थहीन नहीं थे। इसके अतिरिक्त वहाँ के निवासियों में एक गुण यह भी था कि वे सदा प्रमुदित-प्रसन्न रहते थे। जहाँ हर्ष है, उत्साह है, वहाँ सब प्रकार की ऋद्धि

आप ही आकर बसेरा लेती है। उत्साही मनुष्य किसी प्रिय से प्रिय वस्तु का वियोग होने पर भी रोता-झिकता नहीं है और उत्साह हीन मनुष्य उस वस्तु की मौजूदगी में भी रोने से बाज नहीं आता। इस प्रकार जब तक उत्साह न हो, किसी भली वस्तु का होना न होना समान है। राजगृह नगर के निवासी उत्साही थे, इस कारण प्रसन्नचित्त रहते थे। इतना ही नहीं, वरन् दूसरी जगह से जो मलीन बदन आते थे, वह भी राजगृह में पहुँचकर हर्षित हो जाते थे। जैसे ताप से पीड़ित पुरुष किसी शीतल उद्यान में पहुँचकर हर्षित हो जाता है, उसी प्रकार अगर कोई दीन-दुखिया, भूखा-प्यासा राजगृह में आजाता था तो वह भी हर्षित होजाता था।

बाहर से आये हुए लोग जिस ग्राम से उदास होकर लौटते हैं, वह ग्राम हतभाग्य कहलाता है। इसके विपरीत जिस ग्राम में पहुँचकर बाहर के लोग प्रमुदित हो उठें तथा उस ग्राम की प्रशंसा करें, वह ग्राम सद्भागी माना जाता है।

राजगृह नगर के नागरिक इस बात की बड़ी सावधानी रखते थे कि हमारे नगर में आकर कोई उदास न रहे।

अवकाश के अभाव से राजगृह नगर का विशेष वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका ठीक तरह वर्णन करने के लिए काफी समय की आवश्यकता है। 'उववाई' सूत्र में जो वर्णन चम्पा नगरी का दिया गया है, वही वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिए। उस वर्णन से तात्कालिक नागरिक जीवन की अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है।

'तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था।'

इस पाठ में 'रायगिहस्स णयरस्स' यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है मगर होनी चाहिये थी पाँचवी विभक्ति। प्राकृत-भाषा की शैली की विचित्रता के कारण ऐसा प्रयोग किया गया है। अतएव 'राजगृह नगर से' बाहर उत्तर पूर्व दिग्भाग में गुणशील नामक चैत्य था ऐसा अर्थ करना चाहिए।

यहाँ 'चैत्य' शब्द के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है, चिञ् चयने धातु से चैत्य शब्द बना है। लेपन करने को या संग्रह करने को 'चिति' कहते हैं। तथा लेपन या संग्रह करने के कर्म को 'चैत्य' कहते हैं। मतलब यह है कि उपचय रुप वस्तु 'चैत्य' कहलाती है।

शव का अग्नि-संस्कार करने के लिए लकड़ियों का जो उपचय किया जाता है उसे 'चिता' कहते हैं। चिता संबंधी को 'चैत्य' कहते हैं। यह संज्ञा शब्द है। पहले इसी अर्थ में चैत्य शब्द का प्रयोग होता था। मगर जब मूर्ति पूजा का पक्ष प्रबल हुआ तो इस अर्थ में खींचतान होने लगी। उस समय मूर्त्ति को और मूर्ति से संबंध रखने वाले मकान को भी चैत्य कहा जाने लगा। मगर जब मूर्त्ति नहीं थी तब भी 'चैत्य' शब्द का प्रयोग होता था। इससे यह स्पष्ट है कि 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'मूर्त्ति' नहीं है। जब तक मूर्ति नहीं थी तब तक 'चैत्य' शब्द का साफ और व्युत्पत्ति संगत अर्थ किया जाता था मगर मूर्त्ति का पक्ष आने पर संज्ञा शब्द 'चैत्य' को रुढ़ मान लिया। 'चैत्य' शब्द का अर्थ ज्ञान अथवा साधु भी होता है। 'चिती-संज्ञाने' धातु से भी चैत्य शब्द बनता है। अतः ज्ञान वान् को चैत्य कहा जाता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है।

बुद्धं जं बोहन्तो अप्पाणं वेइयाइ अण्णं च।
पंचमह व्वयसुद्धं, णाणमयं जाण चेदिहरं॥

—षट्प्राभृत, बोधप्राभृत,

अर्थात्—साधुओं को बुद्ध कहना चाहिए। जो स्वयं को तथा दूसरों को बोध देते हैं, जिनके पाँच महाव्रत हैं, उन्हें चैत्यगृह मन्दिर समझो।

चैत्य रूप ज्ञान जहाँ पर हो उसे 'चैत्यालय' कहते हैं। यहाँ जिस गुणशील नामक 'चैत्य' का उल्लेख आया है, उसके संबंध में टीकाकार आचार्य स्वयं लिखते हैं कि वह व्यन्तर का मन्दिर था, अर्हन्त का नहीं।

मूर्त्तिपूजक भाई जहाँ कहीं 'चैत्य' शब्द देखते हैं, वहीं अर्हन्त का मन्दिर अर्थ समझ लेते हैं। उनकी यह समझ अपने आराध्य आचार्य के कथन से भी विरुद्ध है।

मूल—ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे, आइगरे, तित्थयरे, सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे, पुरिससीहे, पुरिसवरपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, लोगुत्तमे, लोगनाहे, (लोगहिए), लोगपईवे, लोगपज्जोयगरे, अभयदए, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए (वोहिदए) धम्मदए, धम्मदेसए, (धम्मनायगे) धम्मसारही, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी, अप्पडिहयवरनाण-दंसणधरे, वियट्टछउमे, जिणे, जावए, बुद्धे, बोहए, मुत्ते, मोयए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुअमणन्तमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तियं, सिद्धिगइनामधेयं ठाणं

संपाविउकामे जाव समोसरणं !·····परिसा निग्गया !·····
धम्मो कहिओ !······परिसा पडिगया।

संस्कृतच्छाया—तस्मिन् काले, तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः, आदिकरः, तीर्थकरः, सहसंबुद्धः, पुरुषोत्तमः पुरुषसिंहः, पुरुषवरपुण्डरीकम्, पुरुषवरगन्धहस्ती, लोकोत्तमः, लोकनाथः (लोकहितः,) लोकप्रदीपः, लोकप्रद्योतकरः, अभयदयः, चक्षुर्दयः, मार्गदय, शरणदयः, (बोधिदयः,) धर्मदयः, धर्मदेशक, (धर्मनायकः), धर्मसारथिः, धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ति, अप्रतिहतवरज्ञान-दर्शनधरः, व्यावृत्तछद्मा, जिनः, ज्ञायकः, बुद्धः, बोधकः, मुक्त, मोचकः, सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिकं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामः, यावत् समवसरणं। पर्षद् निर्गता। धर्मः कथितः। पर्षद् प्रतिगता।

शब्दार्थ—उस काल में, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर, आदिकर, तीर्थकर, सहसंबुद्ध—स्वयं तत्त्व के ज्ञाता, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवरपुण्डरीक-पुरुषों में उत्तम कमल के समान, पुरुषवर गंधहस्ती—पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान, लोकोत्तम, (लोकहितकर,) लोकप्रदीप-लोक में दीपक समान, लोकप्रद्योतकर-लोक में उद्योत करने वाले, अभयदय-अभय देने वाले, चक्षुर्दय-नेत्र देने वाले, मार्गदय-मार्ग देने वाले, शरण देने वाले, (बोधि-सम्यक्त्व-देने वाले) धर्मदाता, धर्म की देशना देने वाले, (धर्म नायक), धर्म रूपी रथ के सारथी, धर्म के विषय में उत्तम चातुरंत चक्रवर्ती के समान,

अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन के धारक, छद्म (कपट) से रहित, जिन--राग-द्वेष को जीतने वाले, सब तत्त्वों के ज्ञाता बुद्ध, बोधक—तत्त्वों का ज्ञान देने वाले, बाह्य—आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, मोचक—मुक्ति देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी—(भगवान् महावीर) शिव, अचल, रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याबाध रहित, पुनरागमनरहित, 'सिद्धगति' नामक स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पधारे। परिषद् निकली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। परिषद् लौट गई।

विवेचनः—काल और समय की व्याख्या पहले के समान यहाँ भी समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब अवसर्पिणी काल का चौथा आरा था और जब राजगृह नगर, गुणसिलक चैत्य, श्रेणिक राजा और चेलना रानी थी, उस समय भगवान् महावीर उस चैत्य में पधारे।

भगवान् महावीर कौन और कैसे हैं? यह बतलाने के लिए शास्त्रकार ने भगवान् के कतिपय गुणों का परिचय दिया है। उनके नाम के पहले उन्हें 'श्रमण' और 'भगवान्' यह विशेषण दिये गये हैं। 'श्रमण' शब्द का क्या अर्थ है? यह देखना आवश्यक है।

'श्रम' धातु से 'श्रमण' शब्द बना है। 'श्रम' धातु का अर्थ है तप करना और परिश्रम करना। 'श्राम्यति तपस्यति इति श्रमणः' अर्थात् जो तप तपते हैं, तप करने में जो परिश्रम करते हैं, वह 'श्रमण' कहलाते हैं। इस प्रकार श्रमण का अर्थ 'तपस्वी' होता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान् जब गुणसिलक चैत्य में पधारे तब वह कौन-सा तप करते थे? केवल-ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उनके तप करने का न कहीं उल्लेख मिलता है और न उस समय तप करने की आवश्यकता ही थी। फिर उन्हें श्रमण क्यों कहा गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ चारित्र है वहाँ तप भी है। इस संबंध से भगवान् महावीर को उस समय भी तपस्वी या श्रमण कहने में कोई बाधा नहीं है।

इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले बारह वर्ष के लम्बे समय तक घोर तपश्चर्या की थी। भगवान् की तपश्चर्या असाधारण और महान् थी। अतएव उस तपश्चर्या के कारण भगवान् को 'श्रमण' यह सार्थक विशेषण लगाया जाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले और बाद में भगवान् की आत्मा तो एक ही थी। केवल ज्ञान प्राप्त होने से भगवान् कोई दूसरे नहीं हो गये थे। अतएव उस असाधारण तपस्या के कारण उन्हें केवलज्ञानी होने के पश्चात् भी 'श्रमण' कहना अनुचित नहीं है।

अथवा—'समण' शब्द का संस्कृत रूप 'समनाः' भी होता है। 'शोभनेन मनसा सह वर्त्तत्त, इति समनाः' अर्थात् जो प्रशस्त मन से युक्त हो-जिसका मन प्रशस्त हो-वह 'समन' या 'समण' कहलाता है।

प्रश्न—भगवान् केवली अवस्था में तेरहवें गुणस्थान में वर्त्तमान थे। उनके योग विद्यमान तो थे पर वे मनोयोग के व्यापार से रहित थे। मन से जानना या विचारना इन्द्रिय-

जन्य परोक्ष ज्ञान कहलाता है और भगवान् परोक्ष ज्ञान से रहित थे। पौद्गलिक आकृति के रूप में उनमें मन रहता है परन्तु वे उससे काम नहीं लेते। इसीसे उन्हें 'मनोऽतीत' कहते हैं। ऐसी दशा में भगवान् प्रशस्त मन वाले कैसे कहला सकते हैं ?

उत्तर—स्तुति का प्रकरण होने से भगवान् को 'समन' कहने में कोई वाधा नहीं है। भक्तजन भक्ति में इतने विह्वल हो जाते हैं कि उनकी तुलना वालक से की जा सकती है। बालक बनकर भक्त भगवान् की स्तुति करते हैं। यद्यपि जल में स्थित चन्द्रमा हाथ नहीं आता है और न वालक अपनी माता की गोद में वैठा-वैठा चन्द्रमा को पकड़ ही सकता है, फिर भी वालक चन्द्रमा को पकड़ने के लिए झपट ही पड़ता है। इससे चन्द्रमा तो हाथ नहीं आता, मगर वालक का मन हर्षित हो जाता है।

'कल्याणमंदिर' के कर्त्ता ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में प्रकट किया है। एक वालक समुद्र देखने गया। उसके पिता ने, उसके आने पर पूछा-समुद्र कितना वड़ा है ? उत्तर में वालक ने अपने दोनों हाथ फैला दिये और कहा-इतना बड़ा है। यद्यपि समुद्र वालक के हाथों के वरावर नहीं है फिर भी वालक अपने हर्ष को किस प्रकार प्रकट कर सकता था। उसने हाथ फैलाकर ही अपना भाव और हर्ष प्रकाशित किया।

इसी प्रकार हमारे पास हर्ष प्रकट करने के लिए और क्या है ? अतएव प्रसन्न मन कहकर हम भगवान् की स्तुति करते हैं।

अथवा- 'समण' इस प्राकृत शब्द की संस्कृत-छाया भी 'समण' ही समझना चाहिए। सम् उपसर्ग पूर्वक अण-भाषणे धातु से 'समण' शब्द बना है। इसका अर्थ है—संगत भाषण करने वाला। भगवान् जो भाषण करते हैं वह संगत—प्रामाणिक ही होता है, अतएव भगवान् को 'समण' कहने में कोई बाधा नहीं है।

अथवा—धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, इस नियम के अनुसार 'समणति-इति समण' ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। इसका अर्थ है-प्राणी मात्र के साथ समतामय-समान व्यवहार करने वाले। यद्यपि भगवान् देवराज इन्द्र द्वारा भी पूज्य हैं, फिर भी वे सब प्राणियों को सम देखते हैं। समस्त प्राणियों में भगवान् सम हैं, अतः उन्हें 'समण' कहते हैं।

भगवान् समस्त प्राणियों को समभाव से देखते हैं, इसका प्रमाण क्या है? इस शंका का समाधान यह है कि यदि भगवान् समभावी न होते तो गौतम से कहते-'हे गौतम! मैं पूर्णरूप से निर्विकार एवं संसार से अतीत था; मगर संसार का उद्धार करने के लिए मैं संसार में अवतीर्ण हुआ हूँ। इस प्रकार कह कर भगवान् संसारी प्राणियों से अपनी विशिष्टता एवं महत्ता प्रकट करते। किन्तु भगवान् समभावी थे, इस कारण उन्होंने ऐसा नहीं कहा। इसके विरुद्ध उन्होंने कहा है:—हे गौतम! एक दिन मैं भी पृथ्वीकाय में था। मैं पृथ्वीकाय से निकल आया, परन्तु मेरे बहुत-से साथी अब भी वहीं पड़े हैं।

इस प्रकार अपनी पूर्वकालीन हीन दशा प्रकट करके अन्य प्राणियों के साथ अपनी समता प्रकट की है। उन्होंने

यह भी घोषणा की है कि विकारों पर विजय प्राप्त करते-करते मैं इस स्थिति पर पहुँचा हूँ और तुम भी प्रयत्न करके इसी स्थिति को प्राप्त कर सकते हो। जो भगवान् इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, इन्द्र जिनका जन्म-कल्याणक मनाते हैं, जो त्रिलोक पूज्य और परमात्म पदवी को प्राप्त कर चुके हैं, वही जब अपना पृथ्वीकाय में रहना प्रकट करते हैं, तब उनके साम्यभाव में क्या कमी है?

परमात्मा ने पृथ्वीकाय के जीव रूप में अपनी पूर्व कालीन स्थिति बता कर उन जीवों के साथ अपनी मौलिक एकता द्योतित की है। ऐसी स्थिति में हमें विचारना चाहिए कि हम उन क्षुद्र समझे जाने वाले जीवों से किस प्रकार घृणा करें? भले ही हम इस समय साधक या उपासक दशा में हों, फिर भी हमारा ध्येय तो वही पूर्ण समभाव होना चाहिए, जो साक्षात् परमात्मा भगवान् वीर में था।

भगवान् ने न केवल पशुओं पक्षियों के प्रति ही वरन् कीट-पतंगों के प्रति भी और उनसे भी निकृष्ट एकेन्द्रिय जीवों के प्रति भी साम्यभाव व्यक्त किया है। मगर मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी समभाव न रक्खे तो वह कितना गिरा हुआ है? वह भगवान् के मार्ग से कितना दूर है?

भगवान् ने पृथ्वीकाय के जीवों से अपना संबंध दिखाना प्रारंभ करके, बढ़ते-बढ़ते सब जीवों से अपना संबंध बताया है। कभी किसी ने सुना है कि भगवान् महावीर किसी जीव-योनि में नहीं रहे? प्रत्येक आत्मा अनादि काल से भव-भ्रमण कर रही है। भगवान् की आत्मा भी अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रही थी। उनके सिर्फ सत्ताईस भव ही देखने

से काम नहीं चलेगा। यद्यपि उनके अनन्त भवों का वर्णन लिखा नहीं है, मगर केवल लिखी हुई बात कहना ही व्याख्यान नहीं है।

भगवान् ने गौतम से कहा—हम और तुम पृथ्वीकाय में रह आये हैं। हम आगये और हमारे कई साथी अभी वहीं पड़े हैं। उनके वहां पड़े रहने का कारण प्रमाद है और हमारे निकल आने का कारण प्रमाद का त्याग है। भगवान् के इस कथन का आशय यही है कि मूल रूप से सब जीव मेरे ही ऐसे हैं। अगर प्रमाद का परित्याग करें तो वे भी परमात्म-पद प्राप्त कर सकते हैं।

धर्म का मुख्य ध्येय आत्म-विकास करना है। अगर धर्म से आत्मा का विकास न होता तो धर्म की आवश्यकता ही न होती। अतः भगवान् महावीर ने ऐसे धर्म का उपदेश दिया है जिससे तुच्छ से तुच्छ प्राणी भी अपना आत्मविकास साध सकता है। उन्होंने अपने अनेकानेक पूर्वभवों का उल्लेख करके और अंतिम जीवन में सातिशय साधना करके आत्मविकास की शक्यता प्रकट की है। उनके अतीत और अंतिम जीवन मनुष्य को महान् आश्वासन देने वाले एवं मार्गदर्शक हैं। उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार द्वारा एवं धर्म-देशना द्वारा आत्मा को परमात्मा बनने का नर को नारायण बनने का एवं भक्त को स्वयं भगवान् बनने का मार्ग बताया है। मगर उस मार्ग पर चलने के लिए प्रमाद का परित्याग करना परमावश्यक है।

प्रकृति पर ध्यान देकर देखो तो प्रतीत होगा कि प्रकृति ने जो कुछ किया है, उसका एक अंश भी संसार के

लोगों ने नहीं किया है। मगर लोग प्रकृति की पूछ तो करते नहीं और संसार के लोगों की पूजा करते हैं। खराब हुई एक आँख अगर किसी डाक्टर ने ठीक कर दी तो लोग उस डाक्टर के आजीवन एहसानमंद रहते हैं, मगर जिस कुदरत ने आँखें बनाई हैं उसको जीवन भर में एक बार भी शायद ही याद करते हैं। कुदरत द्वारा बनी हुई आँख की जरा-सी खराबी दूर करने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, किन्तु कुदरत ने आँख ही न बनाई होती तो डाक्टर क्या करता? कुदरत ने असंख्य आँखें बनाई हैं, पर डाक्टर ने कितनी आँखें बनाई हैं? संसार भर के डाक्टर मिलकर कुदरत के समान एक भी आँख नहीं बना सकते।

यह आँखें पुण्य रूपी डाक्टर ने बनाई हैं। आँख की थोड़ी-सी खराबी मिटाने वाले डाक्टर को याद करते हो उसके प्रति कृतज्ञ होते हो, तो इस पुण्य रूपी महान् डाक्टर को क्यों भूलते हो? पुण्य की इन आँखों से पाप तो नहीं करते? दुर्भावना से प्रेरित होकर पर स्त्री की ओर तो नहीं ताकते? यह आँखें बुरे भाव से पर स्त्री को देखने के लिए नहीं हैं।

मनुष्य को जो शुभ संयोग प्राप्त हैं, अन्य जीवों को नहीं। मनुष्य-शरीर किस प्रकार मिला है, इसे जानने के लिए पिछली बातें स्मरण करो। अगर आप चिर-अतीत की घटनाओं पर दृष्टि-निपात करेंगे तो आपके रोम-रोम खड़े हो जाएँगे। आप सोचने लगेंगे-रे आत्मा! तुझे कैसी अनमोल वस्तु मिली है और तू उसका कितना जघन्य उपयोग कर रहा है? हे मानव! तुझे वह शरीर मिला है, जिसमें अर्हन्त, राम आदि पुण्य-पुरुष हुए थे। ऐसी अमूल्य एवं उत्तम वस्तु

पाकर भी तू इसका दुरुपयोग कर रहा है। मानों यह शरीर तुच्छ है।

इस शरीर की तुलना में संसार की बहुमूल्य वस्तु भी नहीं ठहर सकती। एक मनुष्य-शरीर के सामने संसार की समस्त सम्पत्ति कौड़ी कीमत की भी नहीं है। ऐसा मूल्यवान् मानव-शरीर महान् कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त हुआ है। न जाने किन-किन योनियों में रहकर, आत्मा ने मनुष्य-योनि पाई है। अतएव शरीर का मूल्य समझो और प्राणी मात्र के प्रति समभाव धारण करो। आज तुम जिस जीव के प्रति घृणाभाव धारण करते हो, न जाने कितनी बार उसी जीव के रूप में तुम रह चुके हो। भगवान् का कथन इस सत्य का साक्षी है।

भगवान् अपने अतीत कालीन समस्त भवों को जानते थे, अतएव समस्त प्राणियों पर उनका समभाव था।

कहा जा सकता है कि गृहस्थी की झंझटों में फँसा हुआ मनुष्य समभाव कैसे धारण कर सकता है? और यदि वह समभावी बनता है तो अपना व्यवहार कैसे चला सकता है? समभाव धारण करने पर कैसे दुकान चलाई जायगी? कैसे किसी को ठगा जायगा? और कैसे जिया जायगा? अतः समभाव का उपदेश चाहे साधुओं के लिए उपयुक्त हो, गृहस्थों के लिए नहीं है।

लेकिन विचार की यह प्रणाली ही विपरीत है। यदि समभाव से संसार का काम नहीं चल सकता तो क्या विषम-भाव से काम चलेगा? अगर डाक्टर कहता है कि शुद्ध हवा

चलने से हमारा काम नहीं चलता, क्योंकि इससे रोग नहीं होते। तो डाक्टर के इस कथन को आप कैसा समझेंगे?

'बुरा'

धनिकों ने बहुत-सा अनाज खरीद कर भर लिया। लेकिन वर्षा ठीक होने लगी इसलिए वे रोने लगे कि अनाज सस्ता होने से हमारा दीवाला निकल जायगा। वे चाहते हैं कि या तो अतिवृष्टि हो जाय या अनावृष्टि हो जाय, जिससे फसल बिगड़ जावे। क्या धनिकों की इस इच्छा को सब लोग ठीक कहेंगे?

'नहीं'।

इसी प्रकार स्वार्थ-लोलुप लोभी-लालची लोग यह कहते हैं कि समभाव से काम नहीं चल सकता। मगर जो लोग अपना स्वार्थ छोड़ कर अथवा अपने स्वार्थ के समान ही दूसरों के स्वार्थ को महत्व देकर विचार करते हैं, वे जानते हैं कि समभाव से ही संसार का काम चल सकता है। सम-भाव से ही संसार स्थिर रह सकता है। समभाव से ही स्वर्ग के समान सुखमय बन सकता है। समभाव से ही शान्ति और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बन सकता है। समभाव के बिना संसार नरक के तुल्य बनता है। समभाव के अभाव में जीवन अस्थिर, अशान्त, क्लेशमय और सन्तापयुक्त बनता है। संसार में जितनी मात्रा में समभाव की वृद्धि होगी, उतनी ही मात्रा में सुख की वृद्धि होगी।

डाक्टर अपने जघन्य स्वार्थ की साधना के लिए वायु को विकृत करने की इच्छा करता है। उसकी इच्छा पूरी होने से संसार में खराबी पैदा होती है। इसका अर्थ यही है कि समभाव न रहने से संसार में खराबी होगी।

समभाव अमृत है और विषमभाव विष है। अमृत से काम न चल कर विष से काम चलेगा, यह कथन जैसे मूर्खों का ही हो सकता है, इसी प्रकार समभाव से नहीं वरन विषम भाव से संसार चलता है, यह कहना भी मूर्खों का ही है।

भाई-भाई में जब खींचतान आरम्भ होती है, एक भाई अपने स्वार्थ को ही प्रधान मान कर दूसरे भाई के स्वार्थ की तरफ फूटी आँख से भी नहीं देखता तब विषमता उत्पन्न होती है। विषमता का विष किस प्रकार फैलता है और इस से कितना विनाश एवं विध्वंस होता है, यह जानने के लिए राजा कोणिक और वहिलकुमार का दृष्टान्त पर्याप्त है। कोणिक और वहिलकुमार भाई-भाई थे। वहिलकुमार ने सन्तोष किया कि राज्य में हिस्सा न मिला, न सही, हार और हाथी ही बहुत है। लेकिन पद्मावती रानी ने अपने पति कोणिक को भड़काया। उस ने कहा-'सम्पूर्ण राजकीय वैभव का सार हार हाथी ही है। वहिलकुमार ने वह ले लिया। वह तो मक्खन था। छाछ के समान इस राज्य में क्या रक्खा है? तुम निस्सार राज्य में क्यों भरमा गये? अगर हार-हाथी न मिला तो हम तुम राजा रानी ही क्या रहे?

राजा कोणिक ने पहले तो कह दिया कि स्त्रियों की बातों में लग कर मैं अपने भाई से विरोध नहीं कर सकता। लेकिन पद्मा ने कोणिक को फिर उस्केरा। उसने कहा-'हार हाथी नहीं चाहते तो न सही, पर एक बार माँग तो देखो। माँगने से मालूम हो जायगा कि जिसे आप अपना भाई समझते हैं, उसके हृदय में आपके लिए कितना स्थान है?

कहते हैं, काली नागिन से जितनी हानि नहीं होती, उतनी दुर्बुद्धि वाले मनुष्य के संसर्ग से होती है। इसी क

अनुसार कोणिक के अन्तःकरण में पद्मा का परामर्श जम गया। उस ने कहा—क्या मेरा भाई, मेरी इतनी सी आज्ञा नहीं मानेगा?' यह कह कर कोणिक ने एक दूत वहिलकुमार के पास भेजा। दूत के साथ कहलाया—भैया हार हाथी भेज दो। इतने दिन तुम ने रक्खा है, अब कुछ दिन तक हम रक्खेंगे।

दूत गया। उसने वहिलकुमार से कोणिक का संदेश कहा। संदेश सुनकर वहिलकुमार का संतोष, क्रोध के रूप में परिणत हो गया। उसने कहा—'राज्य के हिस्से के समय तो मैं याद न आया और हार-हाथी-हथियाने के लिए 'भैया' हो गया?'

इस प्रकार दोनों भाइयों का मन बिगड़ गया। इस बिगाड़ का परिणाम यह आया कि एक करोड़, अस्सी लाख मनुष्यों का क्रूरता पूर्वक संहार हुआ। और दूसरे प्राणी कितने मरे, यह कौन जाने? इस भीषण नर-संहार से भी हाथ कुछ न आया। हार देवता ले गये। हाथी मर गया। कोणिक विशाला नगरी को ध्वंस करके अपने दस सहोदर भाईयों को मरवाकर वापस लौट आया।

यह सब समभाव के अभाव का और विषम भाव की प्रबलता का परिणाम है। इसके विरुद्ध, समभाव से कितनी शान्ति और कितना आनंद होता है, यह जानने के लिए रामचन्द्र का उदाहरण मौजूद है।

जिसके हृदय में समभाव विद्यमान है वह एकान्त में बैठा हुआ भी संसार की भलाई कर रहा है। जिसका हृदय

बुरी भावनाओं का केन्द्र बना हुआ है वह एकान्त में बैठा हुआ भी संसार में आग फैला रहा है।

राम के हृदय में भी भगवान् महावीर के समभाव के प्रति सहानुभूति थी। इसी कारण उन्होंने माता के हृदय की विषमता को भंग करने के लिए अपने अधिकार को-अयोध्या के राज्य को--छोड़ दिया था। यहाँ यह कहा जा सकता है कि रामचन्द्र और भगवान् महावीर के समय में बहुत अन्तर है। फिर महवीर के समभाव के प्रति राम को सहानुभूति थी, यह कथन युक्ति संगत कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जगत् अनादिकाल से है और जगत् की भाँति ही सत्य--आदर्श भी अनादि हैं। व्यक्ति कभी होता है, कभी नहीं, मगर आदर्श स्थायी होता है। जो व्यक्ति जिस आदर्श को अपने जीवन में मूर्त्त रूप से प्रतिबिम्बित करता है, जिसका जीवन जिस आदर्श का प्रतीक बन जाता है, वह आदर्श उसीका कहलाता है। वस्तुतः आदर्श शाश्वत, स्थायी और अनादि अनन्त है।

राम के स्थूल चरित्र को देखा जाय तो प्रतीत होता होगा कि समभाव से आदर्श राज्य-राम राज्य होता है और विषमभाव से वही हाल होता है जो दुर्योधन का हुआ था। जब हृदय में समभाव होता है तो प्रकृति भी कुछ अलौकिक-सी हो जाती है।

साधारणतया लोग चाहते हैं कि हम बड़े हो जावें तो दूसरों को दबा लें। लेकिन राम ने अपने अधिकार का राज्य त्याग कर अपने बड़प्पन का परिचय दिया। यह सब समभाव की महिमा है। अहंकार के द्वारा बड़े होने से कोई बड़ा नहीं होता। सच्चा बड़प्पन, दूसरों को बड़ा बनाकर आप छोटे

वनने से आता है। मगर संसार इस सच्चाई को नहीं समझता। छोटों पर अत्याचार करना ही आज वड़प्पन का चिह्न माना जाता है।

आज विश्व में इतनी विषमता व्याप रही है कि सन्तान अपने माता-पिता की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करती। कल मैंने एक वृद्ध पुरुष को देखा था। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर जीर्ण हो गया था। हाथ पैर शक्तिहीन हो गये थे। फिर भी वह सिर पर बोझ लादे घाटी चढ़ रहा था। उसे वहुत ही कष्ट अनुभव हो रहा था। उसे देख कर एक मुस्लिम भाई ने, जो शायद बूढ़े से परिचित थे-कहा-'इस बुड्ढे की जैसी औलाद है, वैसी होकर मर जाय तो अच्छा है।' अर्थात् उस ने बूड्ढे की सन्तान को कृतघ्न बतलाया और ऐसी सन्तान के होने की अपेक्षा न होना अधिक अच्छा समझा।

ऐसे दुर्बल वृद्ध पर किसे दया न आयेगी? जिस के हृदय में समभाव का थोड़ा-सा भी अंश है, वह द्रवित हुए विना नहीं रह सकता। पर आज ऐसे अनेक-अनगिनती मनुष्य हैं जो अशक्त होने पर भी परिश्रम करते हैं और फिर भी भरपेट भोजन नहीं पाते। ऐसे लोगो पर आप को कितनी दया आती है?

उन गरीबों पर आपका ही बोझ है। आप के बोझ से वे दबे जा रहे हैं। यह वहुमूल्य मिलों के वस्त्र उन्हें मार रहे हैं। अगर आपने इन वस्त्रों का त्याग कर दिया होता तो यह भूखों क्यों मरते? मगर आप के अन्तःकरण में अभी तक समभाव जागृत नहीं हुआ है। दूसरों के दुख को आप

अपना दुख नहीं मानते। यही नहीं, दूसरों के दुख को आप अपने सुख का साधन बना रहे हैं। जैन धर्म की बुनियाद समभाव है। जब तक आप में समभाव नहीं आता, आप के अन्तःकरण में करुणा का उदय नहीं होता, तब तक धर्म का प्रभाव नहीं फैल सकता।

लोग अगर मौज-शौक त्याग दें, विलासमय जीवन का विसर्जन कर दें तो गरीबों को अपने बोझ से हलका कर सकेंगे, साथ ही, अपने जीवन को भी सुधार के पथ पर अग्रसर कर सकेंगे। क्या विलासिता-वर्द्धक बारीक वस्त्र पहनने से ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता मिलती है? अगर नहीं, तो अपने जीवन को बिगाड़ने वाले तथा दूसरों को भी दुख में डालने वाले वस्त्रों के पहनने से क्या लाभ है?

बहिनें चाहे उपवास कर लेंगी, तपस्या करने को तैयार हो जायेंगी, परन्तु मौज-शौक त्यागने को तैयार नहीं होतीं। ऐसा करने वाली बहिनों के दिल में दया है, यह कैसे कहा जा सकता है? एक रुपये की खादी का रुपया गरीबों को मिलता है और मील के कपड़े का रुपया महापाप में जाता है। मील के कपड़े के लिए दिया हुआ रुपया आप ही को परतन्त्र बनाता है। पर यह सीधा-सादा विचार लोगों को नहीं जँचता। इसका मुख्य कारण समभाव का अभाव है।

रामचन्द्र ने कैकेयी के हृदय में साम्य का अभाव देखा। उसे सुधारने के विचार से रामचन्द्र ने सीता सहित छाल के वस्त्र पहिने और अन्त में कैकेयी के अन्तःकरण में समता भाव जागृत कर दिया। ऐसा रामचन्द्र का साम्यभाव था। वास्तव में सच्चा समताभावी व्यक्ति ही दूसरों को विषम-भाव में रमते नहीं देख सकता।

भगवान् महावीर में साम्यभाव पराकाष्ठा को पहुँच गया था। अतः वह 'समण' अर्थात् प्राणी मात्र के साथ समता से वर्त्तने वाले कहलाते हैं।

'भगवान्' शब्द की व्याख्या

'भगवान्' शब्द 'भग' धातु से बना है। 'भग' का अर्थ है-ऐश्वर्य। अर्थात् जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त है वह भगवान् कहलाता है। कहा भी है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥

अर्थात्--सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न, यह छः 'भग' शब्द के वाच्य हैं।

कहा जा सकता है कि त्यागी--तपस्वी वीतराग पुरुष में ऐश्वर्य क्या हो सकता है? और उस ऐश्वर्य को हम कैसे देख सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जड़ एवं स्थूल ऐश्वर्य स्थूल नेत्रों से देखा जा सकता है और सूक्ष्म ऐश्वर्य को देखने के लिए सूक्ष्म नेत्रों की आवश्यकता होती है। आन्तरिक दृष्टि जिन्हें प्राप्त है वे भगवान् का ऐश्वर्य देख सकते हैं। भगवान् की अनन्त आत्मिक विभूति ही उनका ऐश्वर्य है।

कल्पना कीजिए, एक स्वामी और उसका सेवक समान वस्त्र पहन कर खड़े हैं। फिर भी भलीभाँति देखने वाले को यह बात मालूम हो जाती है कि यह स्वामी और यह सेवक

है। जब साधारण मनुष्य के शरीर पर भी ऐश्वर्य के चिह्न दिखाई दे जाते हैं तो त्रिलोक पूज्य भगवान् के ऐश्वर्य को देख लेना कोई कठिन बात नहीं है।

आज भी कई चित्रों में, जिसका वह चित्र होता है उसके आसपास अगर वह विभूपितमान् हो तो एक प्रभा-मण्डल बना रहता है। पर प्रभामण्डल उसके विभूतिमान् होने का द्योतक है। आधुनिक विज्ञान भी इस बात को पुष्ट करता है।

सारांश यह कि भगवान् का अर्थ है-ऐश्वर्य सम्पन्न और पूज्य। जो ऐश्वर्य से सम्पन्न और पूज्य होता है वह भगवान् कहलाता है। चाहे कोई उसकी अवज्ञा भी करे मगर उसकी पूज्यता में कमी नहीं होती। जैसे सूर्य में प्रकाश देने की स्वाभाविक शक्ति है, किसी के मानने या कहने से सूर्य प्रकाशक नहीं है, और यदि कोई धृष्टता पूर्वक सूर्य को प्रकाशक न माने तो भी उसका प्रकाश कम नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् किसी के कहने से, किसी के बनाने से पूज्य नहीं बने हैं, किन्तु उनमें सहज पूज्यता विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि जैसे किसी किसी प्राणी को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता, उसी तरह कुछ लोगों को भगवान् का वैभव अच्छा न लगे। फिर भी जैसे सूर्य का उसमें कोई दोष नहीं है, उसी प्रकार अगर कुछ लोग भगवान् का वैभव न देख सकें तो इसमें भगवान् का कोई दोष नहीं है।

'शूर वीर विक्रान्तौ' धातु से वीर शब्द बना है। जो अपने वैरियों का नाश कर डालता है। उस विक्रमशाली पुरुष को वीर कहते हैं। वीरों में भी जो महान् वीर है, वह महावीर कहलाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि चक्रवर्ती राजा और साधारण राजा भी अपने शत्रुओं का नाश कर डालता है। फिर उन्हें वीर न कहकर भगवान् को ही वीर क्यों कहा गया है? महावीर में कौनसी वीरता थी? इस प्रश्न का समाधान यह है कि भगवान् महावीर को न केवल वीर, वरन् महावीर कहा गया है। सब से बड़े वीर को महावीर कहते हैं। भगवान् को महावीर कहने का कारण यह है कि उन्होंने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। बाह्य शत्रुओं को जीतने वाला वीर कहलाता है और आन्तरिक शत्रुओं को जीतने वाला महावीर कहलाता है।

बाह्य शत्रुओं को स्थूल साधनों से, पाशविक शक्ति से, शस्त्र आदि की सहायता से जीतना आसान है। मगर आन्तरिक शत्रु इस प्रकार नहीं जीते जा सकते। उन्हें जीतने के लिए आध्यात्मिक बल की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक बल ही सच्चा बल है, क्योंकि वह पर-साधनों पर निर्भर नहीं है। भगवान् महावीर में आध्यात्मिक बल की पराकाष्ठा थी अतएव उन्हें महावीर कहते हैं।

इसके अतिरिक्त, आये हुए कष्टों को बिना घबराहट के सहन कर लेने वाला पुरुष 'वीर' कहलाता है। परन्तु भगवान् केवल आये हुए कष्टों को ही सहन नहीं करते थे, मगर साधक अवस्था में विशिष्ट निर्जरा के हेतु कभी-कभी कष्टों को इच्छा पूर्वक आमंत्रित करते थे और उन कष्टों पर विजय प्राप्त करते थे। इस कारण साधारण वीर पुरुषों की अपेक्षा उनकी वीरता विलक्षण प्रकार की और उच्च श्रेणी की थी। इस कारण भी उन्हें महावीर कहा जा सकता है।

नाम दो प्रकार के होते हैं। एक तो जन्म के समय गुण या प्रयोजन को लक्ष्य करके नाम रक्खा जाता है और दूसरा अमुक प्रकार के विशिष्ट पराक्रम आदि गुणों को देखकर अनुसार नाम दिया है। भगवान् का 'महावीर' नाम जन्म-सिद्ध नहीं है। देवों ने बाद में यह नाम रक्खा है। भगवान् का जन्म-नाम 'वर्द्धमान' था। देवों ने यह नाम क्यों दिया, इस संबंध में आचारांग सूत्र में और कल्पसूत्र में कहा है—

'अयले भय–भेरवाणं, खंतिखमे परीसहोवसग्गाणं।
देवेहिं कए महावीरेत्ति ॥

अर्थात्-बिजली आदि द्वारा होने वाले आकस्मिक भय तथा सिंह आदि हिंसक पशुओं की गर्जना तथा देव आदि अट्टहास्य आदि से उत्पन्न होने वाले भैरव (भय) से विचलित नहीं हुए, भय–भैरव में सुमेरु की तरह अचल रहे, घोर घोर परीषह और उपसर्ग आने पर भी क्षमा का त्याग नहीं किया, इस कारण-इन गुणों को देख कर देवताओं ने भगवान् वर्द्धमान का नाम 'महावीर' रख दिया।

आत्मा में बसने वाले और आत्मा का बिगाड़ करने वाले काम, क्रोध आदि दुर्जय रिपुओं को जीतने वाला महावीर कहलाता है। इससे यह सिद्ध है कि मनुष्य रूपी शत्रुओं को जीतने के कारण नहीं मगर अन्तरंग शत्रुओं को जीतने के कारण भगवान् का यह नाम प्रसिद्ध हुआ था। मनुष्यों को उन्होंने कभी शत्रु समझा ही नहीं था।

कहा जा सकता है कि साधु अपनी मण्डली में बैठ कर अपनी बड़ाई कर लेते हैं। मगर इन बातों की

सत्यता का प्रमाण क्या है ? इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया जाता है ।

एक सेनापति साधुओं के समीप बैठा था । साधुओं ने साधुता की प्रशंसा करते हुए कहा–' वीर पुरुष ही साधु हो सकता है ' ।

सेनापति ने कहा इस में प्रशंसा की क्या बात है आप अपने मुँह से अपनी बड़ाई कर रहे हैं । अगर आप हाथ में तलवार लें तो पता चलेगा कि वीरता किसे कहते हैं ? आप साधुओं को वीर बतलाते हैं, पर जहाँ तलवारों की खटाखट होती है वहाँ साधु नहीं ठहर सकता ।

सेनापति की बात सुनकर साधु हँस दिये । उन्होंने कहा–सेनापति ! जल्दी जोश में आ जाने से सच्ची बात समझ में नहीं आती । शान्तिपूर्वक विचार करो तो साधुओं की वीरता का पता चल जायगा । अगर एक आदमी अकेला ही दस हजार आदमियों को जीत ले तो उसे आप क्या कहेंगे ?

सेनापति–ऐसा होना संभव प्रतीत नहीं होता, फिर भी अगर कोई दस हजार आदमियों को जीत ले तो वह अवश्य ही वीर कहलायगा ।

साधु बोले–ठीक है । लेकिन कोई दूसरा आदमी दस हजार आदमियों को जीतने वाले को भी जीत ले तो उसे आप क्या कहेंगे ?

सेनापति–उसे महावीर कहना होगा ।

साधु–देखो, संसार में बड़े-बड़े शस्त्रधारी थे । उदाहरण के लिए रावण को ही समझ लीजिए । रावण प्रचण्ड

वीर था। उस ने लाखों पर विजय प्राप्त की थी। मगर जिस काम ने उसे भी जीत लिया वह काम वीर कहलाया कि नहीं? रावण ने हजारों-लाखों योद्धाओं को पराजित कर दिया, मगर सीता की आँखों को वह न जीत सका। अतएव काम ने उसे पराजित करके नचा डाला। जिसके प्रबल प्रताप के आगे बड़े २ राजा-महाराजा नतमस्तक होते थे, जिसकी प्रचण्ड शक्ति से बड़े-बड़े शूरवीर भी अभिभूत हो जाते थे, वह लाखों को जीतने वाला रावण, अबला कहलाने वाली सीता के आगे हाथ जोड़ने लगा और उसके पैरों में पड़ने लगा। मगर सीता ने उसे ठुकरा दिया।

प्रश्न उपस्थित होता है—वीर कौन था? रावण या काम?

सेनापति—काम। काम को जीतना बहुत कठिन है?

साधु—काम लाखों को जीतने वाला वीर है। मगर जो सत्वशाली पुरुष वीर काम को भी जीत लेता है उसे क्या कहना चाहिये? काम-विजय का ढोंग करने की बात दूसरी है, मगर सचमुच ही जो काम को पराजित कर देते हैं उन्हें क्या कहेंगे? ऐसे महान् पराक्रमी पुरुष को 'महावीर' कहा जाता है।

साधु अकेले काम को ही नहीं जीतते, किन्तु क्रोध, मोह, मत्सरता आदि को भी जीतते हैं। क्रोध के वश होकर अगर कोई पुरूष साधु को गाली देता है, उसके खिलाफ़ तलवार लेकर खड़ा हो जाता है, तब भी सच्चा साधु क्रुद्ध नहीं होता। क्या इस प्रकार काम और क्रोध को जीतना साधारण बात है?

साधु का यह कथन सेनापति ने सहर्ष स्वीकार किया। सेनापति बोला-काम, क्रोध, मोह, मात्सर्य आदि सबको जीतने वाला तो वीर है ही, लेकिन इनमें से एक को जीतने वाला भी वीर है।

आदिकर-

एक तो काम क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओं को जीतने के कारण भगवान् को महावीर कहा है, दूसरे 'आदिकर' अर्थात् आदि करने वाले होने से भी उन्हें महावीर कहा है। भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म की आदि की है, इस कारण वह 'आदिकर' कहलाते हैं।

आचारांग आदि बारह अंग-ग्रंथ श्रुतधर्म कहलाते हैं। * प्रथम अंग आचारांग से लेकर बारहवें अंग दृष्टिवाद तक का, जिनमें साधु के आचार धर्म से लेकर समस्त पदार्थों का वर्णन किया गया है, 'श्रुतधर्म' शब्द से व्यवहार होता है। इस श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता अर्थात् आद्य उपदेशक होने के कारण भगवान् महावीर को 'आइगरे' अर्थात् आदिकर या आदिकर्त्ता कहा गया है।

---

* बारह अङ्गों के नाम और उनका विषय संक्षेप में इस प्रकार है—

१. आचारांग- इस अङ्ग में निर्ग्रन्थ श्रमणों का आचार, गोचार (भिक्षा लेने की विधि) विनय, विनय का फल, कायोत्सर्ग आदि स्थान, विहारभूमि आदि में गमन, चंक्रमण, आहार आदि का परिमाण (यात्रा), स्वाध्याय आदि में नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम आदि, दोषों की शुद्धि, व्रत,

नियम, तप आदि विषय वर्णित है। आचाराङ्ग में दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, पचासी उद्देशनकाल और पचासी समुद्देशन-काल हैं।

२. सूत्रकृताङ्ग—इसमें स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष रूप पदार्थ, एक सौ अस्सी क्रियावादी के मत, चौरासी अक्रियावादी के मत, सड़सठ अज्ञानवादी के मत, बत्तीस वैनयिक के मत, इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ अन्यदृष्टियों के मतों का निराकरण करके स्वसिद्धान्त की स्थापना, आदि का वर्णन है। इस में दो श्रुतस्कन्ध, तेईस अध्ययन तेतीस उद्देशन काल और तेतीस समुद्देशन काल हैं। छत्तीस हजार पद हैं।

३. स्थानांग—इस अंग में स्वसमय का, परसमय का और स्वपरसमय का, जीव का, अजीव का, जीवाजीव का, लोक का, अलोक का, लोकालोक का, वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध हैं। दस अध्ययन, इक्कीस उद्देशन काल, इक्कीस समुद्देशन काल, और बहत्तर हजार पद हैं।

४. समवायांग—इस अंग में स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, और क्रमशः एक आदि अंक-वृद्धिपूर्वक पदार्थों का निरूपण तथा द्वादशांगी रूप गणिपिटक के पर्यवों का प्रतिपादन

है। इसमें एक अध्ययन, एक श्रुतस्कन्ध, एक उद्देशनकाल, एक समुद्देशनकाल, तथा एक लाख चवालीस हजार पद हैं।

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति—स्वसमय, परसमय, स्व-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, देव, राजा, राजर्षि और संदिग्ध पुरुषों द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के भगवान् द्वारा दिए हुए उत्तर इस सूत्र में हैं। यह उत्तर द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्यव, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेपण, नय, प्रमाण, एवं उपक्रम-पूर्वक यथास्थित भाव के प्रतिपादक हैं, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले हैं, जो संसार-सागर से तिराने में समर्थ हैं, इन्द्रपूजित हैं, भव्य जीवों के हृदय को आनन्द देनेवाले हैं, अंधकार की मलिनता के नाशक हैं, भली भाँति दृष्ट हैं, दीपक के समान हैं, बुद्धिवर्धक हैं। ऐसे छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर व्याख्या-प्रज्ञप्ति अङ्ग में दिये गये हैं। इस अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध, साधिक सो अध्ययन, दस हजार उद्देशक, दस हजार समुद्देशक, छत्तीस हजार प्रश्न और चौरासी हजार पद हैं। नन्दीसूत्र में कहीं दो लाख अठ्यासी हजार पद भी बताये हैं।

६. ज्ञाताधर्मकथा—इस अङ्ग में उदाहरण योग्य पुरुषों के नगर, उद्यान, चैत्य वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक एवं पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, दीक्षा, श्रुतग्रहण, तप, उपधान, पर्याय, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुलों में अवतार लेना, बोधिलाभ

और मोक्षप्राप्ति आदि विषयों का वर्णन है। इस अङ्ग में दो श्रुत-स्कन्ध और उनतीस अध्ययन हैं। यह अध्ययन दो प्रकार के हैं—चरित और कल्पित। इसमें धर्मकथा के दस वर्ग हैं। एक-एक धर्मकथा में पाँच-पाँच सौ आख्यायिकाएँ हैं। एक-एक आख्यायिका में पाँच-पाँच सौ उपाख्यायिकाएँ हैं। एक-एक उपाख्यायिका में पाँच-पाँच सौ आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल मिलकर साढ़े तीन करोड़ आख्यायिकाएँ होती हैं। उनतीस उद्देशनकाल हैं और इतने ही समुद्देशनकाल हैं। पाँच लाख छियतर हजार पद हैं।

७. उपाशक दशांग—इस अङ्ग में श्रावकों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, समवसरण, श्रावकों के शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पडिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुल में जन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रिया आदि का वर्णन है। इस में एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल, और ग्यारह लाख बावन हजार पद हैं।

८. अन्त कृद्दशा—इस अंग में तीर्थंकर आदि के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता; समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक-पारलौकिक ऋद्धि विशेष, भोगपरित्याग, दीक्षा, श्रुत ग्रहण, तप, उपधान, पडिमा, क्षमा आदि धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, क्रियाएँ, समिति, गुप्ति, अप्रमादयोग, उत्तम स्वाध्याय

और ध्यान का स्वरूप, चार कर्मों का क्षय, केवल-ज्ञान की प्राप्ति, मुनियों द्वारा पाला हुआ पर्याय, मुक्ति गमन आदि का वर्णन है। इस अंग मे एक श्रुतस्कन्ध, आठ वर्ग, दस अध्ययन, दस उद्देशन काल, दस समुद्देशन काल, तेईस लाख और चार हजार पद हैं।

९. अनुत्तरोपपातिक--इस अंग में अनुत्तरोपपातिकों के नगर, उद्यान आदि आठवें अंग में वर्णित विषयों का निरूपण है। इस अंग में भी एक श्रुतस्कन्ध, दस अध्ययन, तीन वर्ग, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल, और सैंतालीस लाख आठ हजार पद हैं।

१०. प्रश्न व्याकरण--एक और आठ प्रश्न, एक सौ आठ अप्रश्न, एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न, विद्या के अतिशय तथा नागकुमार एवं सुवर्णकुमार के साथ हुए संवाद। इस अंग में एक श्रुतस्कन्ध, पैंतालीस उद्देशनकाल, पैंतालीस समुद्देशनकाल, बानवे लाख और सोलह हजार पद हैं।

११. विपाकश्रुत-सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल। यह फल संक्षेप में दो प्रकार का है-दुःखविपाक और सुखविपाक। दस दुःखविपाक तथा दस सुखविपाक हैं। दुःखविपाक में, दुःखविपाक वालों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, भगवान् का समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, नगरगमन, संसार और एवं दुःखों की परम्परा का वर्णन है। सुखविपाक में, सुखविपाक वालों

के नगर आदि का वर्णन है। साथ ही उनकी ऋद्धि का, भोगों के त्याग का, दीक्षा का, शास्त्र अध्ययन का, तप, उपधान, प्रतिमा (पडिमा), संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादोपगमन, देवलोकगमन, सुकुल में अवतार, बोधिलाभ और मुक्ति आदि विषयों का निरूपण किया गया है। इस अङ्ग में बीस अध्ययन हैं। बीस उद्देशनकाल और बीस समुद्देशनकाल हैं। एक करोड़ चौरासी लाख और बत्तीस हजार पद हैं।

१२. दृष्टिवाद—दृष्टिवाद अत्यन्त विशाल अंग है। उसमें समस्त पदार्थों की प्ररूपणा है। उसके पाँच विभाग हैं-परिकर्म, सूत्र, पूर्व, अनुयोग और चूलिका।

वर्त्तमान काल में बारहवां अंग पूर्ण रूप से विच्छिन्न होगया है। आज वह उपलब्ध नहीं है। शेष ग्यारह अंग उपलब्ध हैं, किन्तु उनका भी बहुत-सा अंश विच्छिन्न हो गया है। अतएव पदों की संख्या आदि में अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है। वर्णित विषयों में न्यूनता आ जाना भी स्वाभाविक है। ऊपर जो परिणाम एवं विषय का उल्लेख किया गया है वह प्राचीन कालीन है, जब सम्पूर्ण रूप से अंग-शास्त्र उपलब्ध थे।
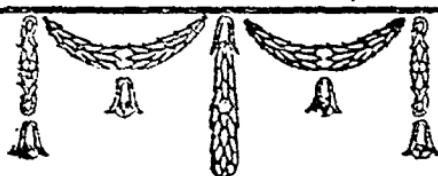
प्रश्न—भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। उनसे पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव थे। उन्होंने भी श्रुत-धर्म की प्ररूपणा की थी। ऐसी स्थिति में आदिकर्त्ता भगवान् ऋषभदेव को माना जाय अथवा भगवान् महावीर को? अथवा भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर में किसी प्रकार का मतभेद था? क्या दोनों धर्म जुदे-जुदे थे? जिससे दोनों ही आदिकर्त्ता कहे जा सक हैं। अगर दोनों की प्ररूपणा एक ही थी तो दोनों आदिकर किस प्रकार कहे जा सकते हैं?

उत्तर-मतभेद सदा अल्पज्ञों में होता है। सर्वज्ञ भगवान् वर के स्वरूप को पूर्ण रूप से और यथार्थ रूप से जानते हैं, अत उनमें मतभेद की संभावना ही नहीं की जा सकती। भगवा ऋषभदेव और भगवान् महावीर दोनों सर्वज्ञ थे, अतः उन किंचित् भी मतभेद नहीं था। फिर भी दोनों धर्म के आदि कर्त्ता कहलाते हैं। यह बात एक उदाहरण से भली भांि समझ में आ सकेगी। मान लीजिए, किसी घड़ी में आ दिन तक चलने वाली चावी दी। घड़ी आठ दिन तक चलकर बंद होगी ही। इस समय घड़ी में जो चावी भरेगा वह घड़ी की गति का पुनःकर्त्ता कहलाएगा या नहीं। उसी के प्रयत्न से बन्द हुई घड़ी की गति की आदि होगी। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान प्रवचन करते हैं। परन्तु प्रवचन का समय पूरा होने पर अर्थात् चावी पूरी हो जाने पर दूसरे तीर्थंकर फिर चावी दें हैं-प्रवचन करते हैं। बाईस तीर्थंकरों तक यह बात समझिए तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का शासन ढाई सौ वर्ष तक चला। उसके बाद चौवीसवें और इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने चावी भरी। भगवान् महावीर

न होते तो जिन-शासन आगे न चलता। पर भगवान् महावीर ने प्रवचन रूपी घड़ी में चाबी देकर उसे चालू कर दिया। अतएव भगवान् महावीर श्रुतधर्म के आदिकर्त्ता कहलाए।

तीर्थङ्कर शब्द की व्याख्या–

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर ने चाबी किस प्रकार दी? वह आदिकर्त्ता क्यों कहलाए? इसका उत्तर यह है कि भगवान् 'तीर्थंकर' थे। जिसके द्वारा संसार-सागर सरलता से तिरा जा सकता है वह तीर्थ कहलाता है। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने के कारण तीर्थंकर भगवान् महावीर को 'आदिकर' कहा गया है।

नदी में से पानी लाया जाता है। पानी लाने वालों को असुविधा न हो, सरलता से पानी लाया जा सके, इस अभिप्राय से नदी के किनारे सीढियाँ लगा दी जाती हैं अथवा दूसरी तरह से घाट बना दिया जाता है। घाट को भी तीर्थ कहते हैं। इसी प्रकार संसार-समुद्र से सुविधापूर्वक पार पहुँचने के लिए तीर्थ की स्थापना की गई है।

यों तो विशेष शक्ति वाले नदी को तैर कर पार कर सकते हैं, मगर पुल बन जाने पर चिउँटी भी नदी पार कर सकती है। पुल बनने से नदी पार करने में बहुत सुविधा होती है। इसी प्रकार संसार-समुद्र को सुविधापूर्वक पार करने के लिए तीर्थ की स्थापना की जाती है। तीर्थ की स्थापना करने वाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। लौकिक समुद्र की तरह संसार-समुद्र भी अनेक विध दुःखों से परिपूर्ण है। सभी जीव दुःखमय संसार सागर को पार करना

चाहते हैं। मगर बिना साधन के उसे पार करना कठिन है। अतएव तीर्थंकर अवतरित होकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार संसार-सागर से पार उतरने के लिए पुल बनाने वाले ही तीर्थंकर कहलाते हैं।

नदी पार करने के लिए बाँधा हुआ पुल स्थूल नेत्रों से दिखाई देता है। मगर संसार को पार करने के लिए बाँधा हुआ पुल कौन-सा है? इसका उत्तर यह है कि तीर्थंकरों ने तीर्थ रूपी पुल बाँधा है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र को प्रवचन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान् ने केवलज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् के कल्याण के हेतु जो प्रवचन कहे और जिन प्रवचनों को गणधरों ने पूरी तरह धारण किया, उन प्रवचनों को तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।

भगवान् ने अपना तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक चालू रहेगा, ऐसा बतलाया है। किन्तु तेरहपंथ के स्थापक अपने आपको ही तीर्थ की स्थापना करने वाला मानते हैं। उनका कथन है कि तीर्थ का विच्छेद हो गया था सो हमने फिर से इसकी स्थापना की है। 'मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष चलेगा' भगवान् के इस कथन का अर्थ वे यह करते हैं कि शास्त्रतीर्थ ही इतने वर्ष चलेगा—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ पहले ही विच्छेद को प्राप्त हो जायगा।

विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का कथन भोले जीवों को भ्रम में डालने के लिए, उन्हें प्रलोभन देने के लिए और साथ ही अपने मुँह से ही अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। वास्तव में

भगवान् ने जिस तीर्थ को २१ हजार वर्ष पर्यन्त चालू रहना बतलाया है वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ ही है।

भगवान् ने शास्त्र में जिस सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप तीर्थ की स्थापना की है, वह अविनश्वर है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र का कभी नाश नहीं होता। ऐसी अवस्था में उसके इक्कीस हजार वर्ष तक विद्यमान रहने की बात शास्त्रसंगत नहीं कही जा सकती। जब प्रवचन रूपी तीर्थ अविनाशी है तो इक्कीस हजार वर्ष तक स्थित रहने वाला तीर्थ चतुर्विध संघ ही हो सकता है। अतः तेरहपन्थ के स्थापक की अपने आप ही पच्चीसवाँ तीर्थङ्कर बनने की चेष्टा उपहासास्पद है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रवचन किसे कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि वचन और प्रवचन में पर्याप्त अन्तर है। साधारण बोलचाल को वचन कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—एक खास वचन, दूसरा विवेक वचन और तीसरा विकल वचन। तथ्यहीन वचन विकल वचन कहलाते हैं। अपनी शक्ति से तोल-तोल कर बोलना विवेक वचन हैं और साधारण बोलचाल को खास वचन कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष अपने निर्मल ज्ञान से वस्तु-स्वरूप को यथार्थ रूप में जान कर, संसार के कल्याण के लिए जो उपदेश-वचन बोलते हैं, वही वचन 'प्रवचन' कहलाते हैं।

न्यायाधीश (जज) अपने घर पर अपनी स्त्री आदि से बातचीत करता है और न्यायासन पर बैठ कर, वादी-प्रतिवादी की बातें सुनकर, अपने ज्ञान से निर्णय करके फैसला

देने के लिए भी बोलता है। यद्यपि वचनों का उच्चारण दोनों जगह सदृश है, फिर भी न्यायालय में बोले जाने वाले वचनों का महत्व कुछ और ही है। न्यायाधीश के फैसले के वचनों में शक्ति है। उन में हानि-लाभ भरा हुआ है। अतएव इस के उन वचनों को फैसला कहते हैं। फैसले में आये हुए शब्द मिसल का सार हैं। इसी प्रकार जगत् के लाभ के लिए ज्ञानवान् महात्माओं ने अपने ज्ञान के सार रूप में जो वचन-प्रयोग किया है उसे प्रवचन कहते हैं।

जैसे फैसले से फाँसी कटती है, उसी प्रकार भगवान् के प्रवचन से संसार की फाँसी कटती है। संसार की फाँसी काटने वाले वचन को प्रवचन कहते हैं। फैसले में और प्रवचन में कुछ अन्तर भी है और वह यही कि फैसला कभी सदोष भी हो सकता है, उससे कभी फाँसी की सजा भी मिलती है. मगर प्रवचन एकान्त रूप से फाँसी काटने वाला ही होता है। ऐसे प्रवचन की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं।

'सहसंबुद्धे' शब्द का विवेचन।

तीर्थंकर भगवान् ने जो प्रवचन किया है, वह उन्होंने किसी से सीख कर किया है या स्वयं जानकर? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर स्वयं ही अपने-अनन्त, असीम केवलज्ञान से पदार्थों के सम्पूर्ण स्वरूप को हस्तामलकवत् जानते हैं। उन्हें किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं होती। किसी से सीखकर कहे हुए वचन वस्तुतः प्रवचन नहीं है, किन्तु दूसरे के उपदेश के बिना ही, स्वयमेव जिन्हें ज्ञान प्राप्त हो उन स्वयं सम्बुद्ध भगवान् का कथन ही प्रवचन या तीर्थ कहलाता है।

आचार्य और साधु किसी को दीक्षा देते हैं, किसी को श्रावक, श्राविका और किसी को साधु-साध्वी बनाते हैं। किसी को व्रत धारण कराते हैं। फिर भी वह तीर्थंकर पदवी के पात्र नहीं हैं, क्योंकि इतना करने से ही कोई तीर्थंकर नहीं हो जाता। तीर्थंकर पदवी वही महापुरुष पा सकते हैं जो स्वयं-दूसरे के उपदेश बिना ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्राप्त ज्ञान के अनुसार तीर्थ की स्थापना करते हैं। आचार्य और साधु तीर्थ हो सकते हैं, तीर्थंकर नहीं। तीर्थंकर तो स्वयं संबुद्ध ही होते हैं।

जो लोग दूसरों से उपदेश ग्रहण करते हैं, उनमें भी स्वकीय बुद्धि किन्हीं अंशों में विद्यमान रहती है। अगर उनमें स्वकीय बुद्धि न हो तो दूसरे से उपदेश ग्रहण करना ही असंभव है। ऐसी स्थिति में सर्व साधारण को भी स्वयं-बुद्ध क्यों न कहा जाय? इस शंका का समाधान यह है कि साधारण लौकिक बुद्धि होने से ही कोई स्वयं संबुद्ध नहीं कहलाता। आत्म कल्याण की दृष्टि से जो जगत् के समस्त पदार्थों को जानता है—क्या हेय है, क्या उपादेय (ग्राह्य) है, क्या उपेक्षणीय (उपेक्षा करने योग्य) है, इस प्रकार पदार्थों का पूरी तरह ज्ञाता होता है और यह ज्ञान भी जिसे स्वतः प्राप्त होता है, वही स्वयं संबुद्ध कहलाता है।

'पुरुषोत्तम' शब्द का विवेचन-

भगवान् महावीर स्वामी पुरुषोत्तम थे-पुरुषों में उत्तम थे। भगवान् के अलौकिक गुणों का अतिशय ही उनकी उत्तमता का कारण है। भगवान् के बाह्य और आभ्यन्तर-दोनों ही प्रकार के गुण लोक में असाधारण थे। उनका शरीर एक

हजार आठ उत्तम लक्षणों से सम्पन्न था, रूप में अनुपम और असाधारण था। भगवान् के शारीरिक सौष्ठव की समानता कोई दूसरा नहीं कर सकता था। इसी प्रकार उनके आन्तरिक गुण भी असाधारण थे। उनका ज्ञानातिशय, दर्शनातिशय एवं वचनातिशय अलौकिक एवं असामान्य था। देवराज इन्द्र उनके रूप को देखते-देखते और उनके गुणों की स्तुति करते-करते थकता नहीं था। इस प्रकार क्या शारीरिक और क्या आध्यात्मिक, सभी विशेषताएँ भगवान् में असाधारण थीं। संसार का कोई भी पुरुष उनकी सानी नहीं रखता था। इस कारण भगवान् पुरुषोत्तम थे।

'पुरुषोत्तम' शब्द का व्यवहार साधारणतया आपेक्षिक उत्तमता के कारण भी किया जाता है। सौ-दो सौ पुरुषों में जो सब से अधिक सुन्दर हो, विशेष बुद्धिमान हो, वह भी लोक में पुरुषोत्तम कहा जाता है। मगर भगवान् में ऐसी सापेक्ष उत्तमता नहीं थी। भगवान् की उत्तमता सर्वातिशायिनी थी अर्थात् संसार के समस्त पुरुषों की अपेक्षा से थी। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए भगवान् को आगे के विशेषण लगाये गये हैं।

पुरुषसिंह—

भगवान् पुरुषोत्तम होने के साथ पुरुषसिंह भी थे। भगवान् जंगल में रहने वाले सिंह नहीं, वरन् पुरुषों में सिंह के समान थे।

'सिंह' शब्द 'हिंस' धातु से बना है। जो हिंसा करता है अन्य प्राणियों को मारकर खा जाता है, उस वन्य पशु

को सिंह कहते हैं। सिंह में अनेक दुर्गुण होते हैं। फिर अहिंसा की साक्षात् मूर्त्ति भगवान् को 'सिंह के समान क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि उपमा सार्वदेशिक कभी नहीं होती। उपमान और उपमेय-दोनों के समस्त गुणों का मिलान कभी हो नहीं सकता। मुख को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। मगर अमावस्या के अंधकार को दूर करने के लिए मुख का उपयोग नहीं किया जा सकता। क्रोधी पुरुष को अग्नि की उपमा दी जाती है। मगर भोजन पकाने के लिये क्रोधी पुरुष का उपयोग नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि उपमा सदा एकदेशीय होती है। दो पदार्थों के एक या कुछ अधिक गुणों की समानता देखकर ही, एक से दूसरे को समझने के लिए उपमा का व्यवहार किया जाता है। दो पदार्थों के समस्त गुण एक सरीखे हो ही नहीं सकते। यहाँ भगवान् को 'सिंह' की जो उपमा दी है सो सिंह की वीरता-पराक्रम रूप गुण की समानता को लक्ष्य करके ही दीगई है। सिंह में जहाँ अनेकों दुर्गुण हैं वहाँ उसमें वीरता का लोकप्रसिद्ध गुण भी है। जैसे समस्त पशुओं में सिंह अधिक पराक्रमशाली और वीर है, उसी प्रकार भगवान् समस्त पुरुषों में अधिक पराक्रमी और वीर थे। इसी अभिप्राय को प्रकट करने के लिए सिंह की उपमा दी गई है।

भगवान् में क्या शौर्य था? कैसी वीरता थी? जिसके कारण उन्हें सिंह की उपमा दी गई है? यह बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं—

जिस समय भगवान् दीक्षा लेकर अनन्त ज्ञान आदि में प्रवृत्त हुए तब की तो बात ही निराली है। उस समय का उनका पराक्रम शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

लेकिन जिस समय भगवान् बालक थे तब भगवान् के पराक्रम की इन्द्र ने प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा—'महावीर की शूरवीरता की तुलना नहीं हो सकती। उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। 'भगवान् अनुपम वीर हैं'। मनुष्य की तो बिसात ही क्या है, देव और दानव भी उन्हें भयभीत नहीं कर सकता।

इन्द्र द्वारा की हुई भगवान् महावीर की इस प्रशंसा पर कुछ विरुद्ध प्रकृति वाले देवों को प्रतीति नहीं हुई। यह प्रशंसा उन्हें रुची भी नहीं। वे कहने लगे-मनुष्य में इतनी शक्ति कैसे हो सकती है? कहाँ देव और दानव और कहाँ मनुष्य! इस प्रकार सोच कर उन्होंने भगवान् महावीर को पराजित करने का विचार किया। उनमें से एक देव, जहाँ महावीर बालकों के साथ खेल रहे थे वहाँ आया। देव बालक बन कर भगवान् महावीर के साथ खेलने लगा। उस समय जो खेल हो रहा था, उसमें यह नियम था कि हारने वाला बालक, जीतने वाले को अपने कन्धे पर चढ़ावे। भगवान् महावीर और बालक रूपधारी देव का खेल हुआ। देव हार गया। नियमानुसार देव ने महावीर को कंधे पर बिठलाया। अपने कंधे पर बिठलाकर देव ने अपना शरीर बढ़ाना शुरू किया। देव का शरीर बढ़ते बढ़ते बहुत ऊँचा हो गया। यह अलौकिक विस्मयजनक एवं भयोत्पादक दृश्य देखकर सब बालक बुरी तरह भयभीत हो गये। सब के सब वहाँ से भाग खड़े हुए। भागते-भागते वे सब महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला के पास पहुँचे। इधर देव आकाश तक बढ़ता ही चला जाता था। बालकों ने यह घटना जब महाराज सिद्धार्थ को सुनायी तो वह भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने यह दृश्य

देखा तो अवाक् रह गये और भयभीत हुए। मगर इतना ऊँचे उठने पर भी महावीर के चेहरे पर भय का एक भी चिन्ह प्रकट न हुआ। उन्हें न घबराहट हुई, न चिन्ता हुई और न भय लगा।

देवता ने अपना शरीर बढ़ाते-बढ़ाते जब आकाश तक पहुँचा दिया तब महावीर ने सहज रीति से अपनी वज्र-सी मुट्ठी का धीरे से उस देव पर प्रहार किया। मुट्ठी का प्रहार होते ही देव गिर पड़ा और अपने असली रूप में आ गया। भगवान् महावीर उस पर चढ़े हुए इसी प्रकार निर्भयतापूर्वक खेलते रहे। यद्यपि महावीर ने अत्यन्त साधारण रूप से ही देवता पर मुट्ठी-प्रहार किया था, तब भी देव उस से इतना व्यथित हुआ कि अपने मूल स्वरूप में आने पर भी वह कुबड़ा बन गया।

भगवान् के पराक्रम की परीक्षा लेकर देव को इन्द्र की बात पर प्रतीति हुई। उसने दोनों हाथ जोड़ कर कहा- 'भगवान्! आप सचमुच ही वैसे वीर हैं, जैसा इन्द्र ने कहा था। आपका पराक्रम असाधारण है। आपकी वीरता स्तुत्य है। आपकी निर्भयता प्रशंसनीय है। आपका बल अद्वितीय है। आपकी शक्ति के सामने देव और दानव की भी शक्ति नगण्य है।

इस प्रकार प्रशंसा करके देव वहाँ से चला गया। महावीर ने मानवीय सामर्थ्य का जो विराट स्वरूप प्रदर्शित किया उससे अनेकों में नवीन शक्ति और नये साहस का संचार हुआ। भगवान् की इस पराक्रमशीलता के कारण ही उन्हें पुरुषों में सिंह के समान कहा गया है।

पुरुषवर–पुण्डरीक.

सिंह में वीरता है, मगर जगत्-कल्याणकारिता नहीं है। उसके द्वारा संसार का कल्याण नहीं होता। अतः सिंह से भगवान् की विशेषता बतलाने के लिए भगवान् को अन्य अनेक उपमाएँ दी गई हैं। उनमें से एक उपमा पुण्डरीक कमल की है। भगवान् 'पुरिसवरपुण्डरीए' हैं-अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक-कमल के समान हैं।

भगवान् महावीर के लिए हजार पाँखुड़ी वाले पुंडरीक कमल की उपमा क्यों दी गई है? इस उपमा से भगवान् के किस धर्म का बोध कराया गया है? इसका उत्तर यह है कि जैसे पुंडरीक-कमल सफेद होता है, उसी प्रकार भगवान् में उज्ज्वल तथा प्रशस्त लेश्या और ध्यान हैं। जैसे इस कमल में मलीनता नहीं होती, उसी प्रकार भगवान् भी सब प्रकार की मलीनता से विमुक्त हैं।

कमल की उपमा देने का आशय यह है कि कृत्रिम उज्ज्वलता, उज्ज्वल होकर भी मलीन बन जाती है, जब कि अकृत्रिम उज्ज्वलता स्वाभाविक है-उसमें मलीनता नहीं आती। कमल जब तक कमल कहलाता है तब तक वह अपनी उज्ज्वलता नहीं त्यागता। इसी प्रकार भगवान् की लेश्या, भगवान् का ध्यान, अध्यवसाय, परिणाम आदि भी स्वभाविक रूप से उज्ज्वल हैं।

कुछ लोगों के कथनानुसार भगवान् में, छद्मस्थ अवस्था में छहों लेश्याएँ विद्यमान थीं। इनमें कृष्णलेश्या भी अन्तर्गत है। भगवान् में कृष्ण लेश्या मानने का असली

कारण यह है कि भगवान् ने गौशालक को मरने से बचाया था और मरने से बचाना उन लोगों की दृष्टि में पाप है। पाप, कृष्ण लेश्या से ही होता है, अतएव वह लोग भगवान् में कृष्ण लेश्या का होना कहते हैं। मगर साधारण विचार से ही यह मालूम हो जाता है कि भगवान् में कृष्ण लेश्या की स्थापना करना अपनी अज्ञता प्रदर्शित करना है। भगवान् तो सदैव पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक के समान हैं। जगत् में जितने भी श्रेष्ठ एवं शुद्ध भाव है, भगवान् उन सब भावों से परम विशुद्ध हैं।

पुण्डरीक कमल की उपमा देने का एक और अभिप्राय है। इस कमल में एक हजार पँखुड़ियाँ होती हैं। अगर इसे सिर पर रक्खा जाय तो हजार पँखुड़ियों के कारण वह छत्र-बन जाता है। छत्र बना हुआ वह पुण्डरीक कमल शोभा भी बढ़ाता है और ताप से रक्षा भी करता है। साथ ही साथ सुगंध प्रदान करता है। इसी प्रकार भगवान् के शरण में जाने से भगवान् को अपने सिर का छत्र मानने से, पुरुषों की-भक्तों की समस्त आधि-व्याधि नष्ट हो जाती है। भगवान् का शरण ग्रहण करने पर कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इस कारण भगवान् को श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल की उपमा दी गई है।

इसके अतिरिक्त, जैसे कमल मनुष्य का संताप हटाकर उसकी शोभा बढ़ाता है, इसी प्रकार भगवान् जीवों के संताप को दूर करते हैं और उनके स्वाभाविक गुणों का प्रकाश करके उनकी शोभा बढ़ाते हैं।

कमल में एक गुण और भी है। कमल जब खिलता है

तो कीचड़ से मलीन नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् भी निर्लेप हैं-पाप की मलीनता से वह लिप्त नहीं होते। किसी भी प्रकार का विकार उन्हें स्पर्श नहीं करता।

पुरिसवरगंधहत्थी-

सिंह में सिर्फ वीरता है, सुगन्ध नहीं। पुण्डरीक में सुगन्ध है, वीरता नहीं। दोनों उपमाएँ एकांगी हैं। भगवान् में अनन्त वीरता है और आत्मिक सद्गुणों का असीम सौरभ भी है। ऐसी कोई उपमा नहीं आई जिससे भगवान् के दोनों गुणों की तुलना की जा सके। अतएव शास्त्रकार एक और उपमा देते हैं-'पुरिसवरगंधहत्थी।'

गंधहस्ती में ऐसी सुगन्ध होती है कि सामान्य हाथी उसकी सुगन्ध पाते ही त्रास के मारे भाग जाते हैं। वे उसके पास ठहर नहीं सकते। गंधहस्ती की इस उपमा से भगवान् के किस गुण की तुलना की गई है? इसका समाधान यह है कि भगवान् जिस देश में विचरते हैं उस देश में ईति भीति नहीं होती।

अतिवृष्टि होना, अनावृष्टि होना, टिड्डी दल, चूहों आदि का उत्पात होना ईति कहलाता है। ईति रूप उपद्रव होने से मनुष्य-समाज में हाय हाय मच जाती है और मनुष्य मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। जिस देश में भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश में ईति नहीं होती। अगर पहले से हो तो भी मिट जाती है। भगवान् के चरण पड़ते ही पूर्ण शान्ति का साम्राज्य छा जाता है। ऐसी भगवान् की महिमा है। भगवान् की यह महिमा गंधहस्ती की उपमा द्वारा प्रकट की गई है।

भगवान् की इस महिमा के विषय में शास्त्र का प्रमाण है। समवायांग सूत्र में भगवान् के चौंतीस अतिशय बताये गये हैं। उनमें एक अतिशय यह है कि जहाँ भगवान् जाते है वहाँ सौ-सौ कोस में महामारी, मृगी आदि ईतियाँ नहीं रह सकतीं-नई उत्पन्न नहीं होतीं और यदि पहले से हो तो मिट जाती हैं।

भगवान् के प्रताप से सौ-सौ कोश तक के उपद्रव मिट जाना गुण है, अवगुण नहीं। मगर तेरहपंथ मत के अनुसार इस गुण से भगवान् को भी पाप लगना चाहिए। क्योंकि जिस देश में, सौ-सौ कोस तक के उपद्रव मिट जाते हैं, उस देश के सभी मनुष्य संयमी तो होते नहीं हैं। उपद्रव होने से उन असंयत लोगों को दुःख होता था। भगवान् के प्रभाव से वह दुःख मिट जाता है और शान्ति हो जाती है। तेरहपंथ के मतानुसार किसी का दुःख दूर करके उसे शान्ति पहुँचाना पाप है!

जो लोग यह कहते हैं कि दुःख पाने वाले अपने पूर्वोपार्जित पाप कर्मों को भोगते हैं। अपने ऊपर चढ़े हुए ऋण को चुकाते हैं। ऋण चुकाने में बाधा पहुँचाना-दुःख दूर करना अच्छा नहीं है। ऐसा कहने वालों को भगवान् के इस अतिशय पर विचार करना चाहिए। भगवान् जानते हैं कि मेरे जाने से अमुकदेश की प्रजा का दुःख दूर हो जायगा, फिर भी वह उस देश में जाते हैं। अगर भगवान् उस प्रजा का दुःख न मिटाना चाहते हो-दुःख मिटना पाप हो तो भगवान् यह पाप-कर्म करने के लिए जाते ही क्यों? वे किसी गुफा में ही क्यों न बैठे रहते?

भगवान् जहाँ विचरते हैं वहाँ प्रथम तो परचक्री राजा आता ही नहीं है, अगर आता है तो उपद्रव नहीं करता। भगवान् के चरण-कमल जिस देश में पड़ते हैं, वहां के कलह महामारी आदि उपद्रव मिट जाते हैं।

महामारी के प्रकोप से लोग अकाल-मरण से मर रहे थे. वे भगवान् के पदार्पण से बच गये। उनका बच जाना धर्म है या पाप? इस प्रकार का विचार आना-शंका करना ही जैन धर्म को कलंकित करना है। ऐसी स्थिति में जो लोग बच जाना, या किसी को मृत्यु से बचा लेना पाप कहते हैं, उनके लिए क्या कहा जाय?

भगवान् के पधारने से सौ-सौ कोस में आनन्द-मंगल छा जाता है और प्रजा के दुःख बिना उपाय किये ही मिट जाते हैं। जैसे गंध हस्ती की गंध से साधारण हाथी दूर भाग जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के पदार्पण से दुःख दूर भाग जाते हैं। अतएव भगवान् को 'पुरुषवरगंध हस्ती' कहा गया है।

प्रश्न—भगवान् के विचरने के स्थान से सभी ओर सौ-सौ कोस तक उपद्रव नहीं होता और शान्ति का साम्राज्य छा जाता है तो जब भगवान् राजगृही में विराजमान थे तब अर्जुन माली लोगों को क्यों मारता था? वह भयंकर उपद्रव क्यों मचा रहा था? भगवान् के विचरने से वह उपद्रव क्यों नहीं शान्त हुआ?

उत्तर—भगवान् महावीर के पधारने पर ही उपसर्ग मिटना चाहिए। अर्जुन माली ने भगवान् के पधारने से पहले ही चाहे जो उपद्रव किया हो, मगर उनके पधारने पर, भगवान्

की बात तो दूर रही-उनके एक भक्त सुदर्शन के निमित्त से ही उपद्रव मिट गया। ज्योंही सुदर्शन सामने आया कि अर्जुन माली का शैतान भाग गया और पूर्ण रूप से शान्ति का संचार हो गया

शंका—यदि भगवान् के विचरने या विराजने पर सौ-सौ कोस तक शान्ति रहती है तो जब भगवान् समवसरण में ही बिराजमान थे, तभी गोशाला ने आकर दो मुनियों को कैसे भस्म कर दिया ? उस समय भगवान् का अतिशय कहां चला गया था ?

उत्तर—अपवाद सर्वत्र पाये जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा, शीत ऋतु में गर्मी और वर्षा ऋतु में सर्दी-गर्मी भी हो जाती है। यद्यपि वर्षा आदि साधारणतया ऋतु के अनुसार ही होती है, मगर कभी-कभी ऋतु के प्रतिकूल भी हो जाती हैं। अपवाद हो जाने पर भी ऋतु का नाम नहीं पलटता है क्यों कि साधारणतया ऋतु के अनुसार ही सर्दी गर्मी आदि होती है। जैसे ऋतुओं के विषय में अपवाद होते हैं, उसी प्रकार अन्य विषयों में भी अपवाद होते हैं। भगवान् के अतिशय के विषय में यह एक अपवाद है। दस आश्चर्यजनक जो काम हुए हैं, उनमें से एक आश्चर्यकारी कार्य यह भी है। यह अपवाद है। इस अपवाद के कारण भगवान् के अति-शय में कमी नहीं हो सकती।

गोशाला के द्वारा भगवान् महावीर का जैसा प्रकाश फैला है, वैसा प्रकाश गौतम स्वामी के होने पर भी नहीं हुआ, यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। भगवान् महावीर का सच्चा स्वरूप गोशाला के निमित्त से ही संसार में प्रकट

हुआ। गोशालक न होता तो महावीर की सच्ची महावीरता ही प्रकट न होती।

पहलवान की पहलवानी का ठीक-ठीक पता तब तक नहीं लगता, जब तक उसके सामने दूसरा प्रतिद्वंद्वी पहलवान न हो। प्रतिद्वंद्वी पहलवान के निमित्त से ही पहलवान की पहलवानी का संसार में प्रकाश होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिद्वंद्वी पहलवान, किसी पहलवान में बल का संचार करता है अथवा उसे देखकर पहलवान का बल आप ही आप बढ़ जाता है। पहलवान में बल की प्रबलता तो पहले से ही होती है, परन्तु जनता उसके बल को नाप नहीं पाती। उसे पहलवान के बल का परिमाण मालूम नहीं हो सकता। मगर जब उस पहलवान का मुकाबिला करने के लिए दूसरा पहलवान खड़ा होता है, और दोनों में कुश्ती होती है तब उसके बल का पता लगता है। इसी प्रकार भगवान् में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्त बल-वीर्य था मगर गोशालक न होता तो उसका पता संसार को कैसे लगता? भगवान् की अनन्त शक्ति का प्रकाश गोशालक के निमित्त से हुआ।

कैकेयी के निमित्त से रामचन्द्र की महिमा प्रकाशित हुई। विश्वामित्र ने सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र की महत्ता प्रकाशित की। कमठ के उपसर्गों से भगवान् पार्श्वनाथ के बल-विक्रम का पता चला। इसी कारण नाटकों एवं कथाओं में नायक के विरोधी प्रतिनायक की कल्पना की जाती है। प्रतिनायक के साथ होने वाले संघर्ष के द्वारा ही नायक के गुणों का प्रकाश होता है।

गोशालक, महावीर भगवान् का प्रतिद्वंद्वी था। भगवान् ने उसे जलने से बचाया और फिर उसके नियतिवाद को (होनहार के सिद्धान्त को) अपने पुरुषार्थवाद द्वारा परास्त किया। इस प्रकार गोशालक के निमित्त से भगवान् महावीर के अनेक गुणों पर प्रकाश पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि गौशालक की घटना अपवाद रूप है। इस अपवाद से भगवान् के अतिशय में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती।

भगवान् पुरुषवरगन्धहस्ती थे। उनके अनुयायियों को-उनके आदर्शों का अनुसरण करने वालों को-भगवान् के चरण-चिह्नों पर चलने की भावना रखने वालों को विचारना चाहिए कि उनका कर्त्तव्य क्या है?

कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय में चाहे उपसर्ग दूर हुए हों, चाहे शान्ति हुई हो, लेकिन आज जो बड़े-बड़े दुःख आते हैं-जिन दुःखों को हम दैवी आपत्ति कहते हैं, उनके सामने यह 'पुरुषवरगन्धहस्ती' विशेषण क्या काम दे सकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर इस पाठ में शक्ति न होती तो आज इसका पाठ करने की आवश्यकता ही नहीं थी। मगर भगवान् का गन्धहस्तीपन हृदय में स्थापित करने के लिए जिस उपाय की आवश्यकता है, उसके अभाव में वह हृदय में कैसे आ सकता है? सुदर्शन सेठ के हृदय में भगवान् के गन्धहस्तीपन की भावना मात्र आई थी। उस भावना मात्र से सुदर्शन इतना बलवान् बन गया कि जिस का वर्णन नहीं किया जा सकता। ११४१ मनुष्यों को मारने वाला, अस्त्र-शस्त्र और सेना से युक्त,

और बुद्धि का धनी श्रेणिक राजा जिसका सामना नहीं कर सकता था, जिसके भय एवं आतंक से विवश होकर श्रेणिक ने नगर के फाटक बन्द करवा दिये थे, और नगर के बाहर जाने की मनाई कर दी थी, जिसके नाम मात्र से बड़ों बड़ों के कलेजे काँपने लगते थे, उस अर्जुन माली को सुदर्शन ने सहज ही परास्त कर दिया था। मगध का सम्राट् श्रेणिक जिस अर्जुन माली का कुछ न बिगाड़ सका उसे भगवान् के एक भक्त ने अनायास ही-अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग किये बिना ही पराजित कर दिया! जिसके आतंक के सामने श्रेणिक का शस्त्र तेज ठंडा पड़ गया था, उसका सामना करने के लिए किसने क्षत्रियत्व प्रकट किया, कौन क्षत्रिय बन कर सामने आया? सुदर्शन वैश्य था, मगर महावीर का भक्त था। उसने कैसा क्षात्र तेज प्रकट किया, इस पर विचार करना चाहिए।

यह मत समझो कि हम बनिये हैं-ढीली-ढाली धोती वाले वैश्य हैं। यह भी मत समझो कि लड़ने का काम केवल क्षत्रियों का ही है, हम कैसे लड़ें! नहीं, आप लोग वैश्य बनाये गये थे-आप बनिया नहीं थे। आप किसी जमाने के क्षत्रिय हैं। आप महाजन हैं। आप जगत के लिए आदर्श बनाये गये थे। जगत को आप का अनुकरण करने का उपदेश दिया गया था—

महाजनो येन गतः स पन्थः।

धीरे-धीरे आप व्यापार में पड़ गये। व्यापार में पड़ने पर बहुत कम लोग कपट से बच पाते हैं। अपना मतलब निकालने के लिए, व्यापारी लोग अपना आपा भूल कर दीनता

दिखाने लगते हैं। इस प्रकार व्यापार में पड़ने पर और दीनता बताने से आपके जीवन में कायरता ने प्रवेश किया और आप ढीली धोती वाले बनिया बन बैठे। आपके पूर्वज बड़े वीर थे। वे विदेशों से धन लाकर स्वदेश की समृद्धि की वृद्धि में महत्वपूर्ण भाग लेते थे। पालित श्रावक ने व्यापार के निमित्त विदेश यात्रा की थी। वह वहां से एक कन्या भी लाया था। मेरे कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि आप किसी प्रकार की मर्यादा को भंग करें। मैं सिर्फ यह बतलाना चाहता हूँ कि भगवान् महावीर के भक्त दीन, कायर, डरपोक नहीं होते। उनमें वीरता, पराक्रम, आत्मगौरव आदि सद्गुण होते हैं। जिनमें यह सब गुण विद्यमान हैं वही महावीर का सच्चा अनुयायी है। महावीर का अनुयायी जगत के लिए अनुकरणीय होता है-उसे देख कर दूसरे लोग अपने जीवन को सुधारते हैं।

मगर आज उल्टी गंगा वह रही है। बाहर के लोग आकर आपको विलासिता के वस्त्र त्यागने का उपदेश देते हैं। यह देखकर मुझे संकोच होता है-कि जहाँ भगवान् महावीर का सच्चा उपदेश है वहाँ विलासिता कैसी? भगवान् के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक सुनने वाले, मान्य करने वाले और जीवन में उन्हें स्थान देने की चेष्टा करने वाले लोगों को विलास का त्याग करने के लिए दूसरों के उपदेश की आवश्यकता होती है! भगवान् का उपदेश सदा सुनने वाले सादा जीवन व्यतीत क्यों नहीं करते? उनमें सुदर्शन सरीखी वीरता क्यों नहीं आ जाती है? आज बहुसंख्यक विचारक भगवान् महावीर के आदर्शों की ओर झुक रहे हैं। उन्हें प्रतीत हो रहा है कि जगत् का कल्याण इनके बिना सम्भव

नहीं है। पर भगवान् के आदर्शों पर अटल श्रद्धा रखने वाले आप लोग लापरवाही करते हैं, तो आश्चर्य होता है। आप शायद यह विचार कर रह जाते होंगे कि यह तो हमारे घर का धर्म है। "घर की मुर्गी दाल बराबर" यह कहावत प्रसिद्ध है।

धार (मध्यभारत) में एक साधुमार्गी सेठ थे। वह सेठ राजमान्य थे और राजा तथा प्रजा के बीच के आदमी थे। अच्छे वैभवशाली थे। उन सेठ के बापूजी नामक एक मित्र थे। बापूजी मरहठा थे और राज परिवार के आदमी थे। सेठजी के संसर्ग से बापूजी को जैन धर्म पर श्रद्धा होगई। बापूजी को जैन धर्म बहुत प्रिय लगा और धीरे २ वे सेठ से भी आगे बढ़ गये। राजा के यहां बापूजी का नाम 'बापूजी ढूंढिया' पड़ गया। सब उन्हें ढूंढिया कहने लगे। बापूजी कहा करते-अवश्य, मैंने परमात्मा को ढूंढ लिया है।

एक दिन सेठजी ने बापूजी से कहा-आपकी धार्मिकता तो मेरी अपेक्षा भी अधिक बढ़ गई है! मेरे यहां न जाने कितनी पीढ़ियों से इस धर्म की आराधन होती आ रही है, फिर भी मैं पीछे रह गया और आप आगे बढ़ गये।

बापूजी ने उत्तर दिया—आप पीढ़ी-जात धनी हैं, अर्थात् आपके यहाँ धर्म रूपी धन कई पीढ़ियों से है और मैं ठहरा जन्म से गरीब! गरीब को धन मिलता है तो वह उसे यत्न के साथ सम्भालता ही है। पीढ़ी जात धनिक की तरह धन पर उसकी उपेक्षा नहीं होती।

बापूजी का उत्तर सुनकर सेठजी मन ही मन लज्जित से हुए। कहने लगे-आप धन्य हैं कि आप में धर्म भी आया और गरीबी भी।

तात्पर्य यह है कि उक्त सेठजी के समान आप अपनी स्थिति मत बनाइए। धर्म आप की खानदानी चीज है, यह समझ कर इसके सेवन में ढील मत कीजिए। भगवान् महावीर गन्धहस्ती थे, यह बात आप को अपने व्यवहार द्वारा सिद्ध करनी चाहिए। इसे सिद्ध करने के लिए शक्ति सम्पादन करो। जिसके सामने राजा श्रेणिक भी हार गया, जिसके आगे श्रेणिक का क्षत्रियत्व भी न ठहर सका, उसके सामने निर्भयतापूर्वक जाने वाला पुरुष वीर है या कायर? 'वीर'

राजा श्रेणिक क्षत्रिय था और सुदर्शन वैश्य था। फिर भी सुदर्शन की वीरता कैसी बेजोड़ थी, इस बात का विचार करो! वैश्य वीर होते हैं, कायर नहीं होते। वैश्यों में वीरता नहीं होती, यह मूर्खों का कथन है।

वीरता में सुदर्शन का दर्जा राजा श्रेणिक से भी बढ़ गया। सुदर्शन निहत्था था-उसे हाथ में लकड़ी लेने की आवश्यकता न हुई। न उसने यही कहा कि कोई दूसरा साथ चले तो मैं चलूं। सच्चे वीर पुरुष किसी भी दूसरी चीज़ पर निर्भर नहीं रहते और न किसी की देखादेखी करते हैं। सुदर्शन ने ज्यों ही भगवान् महावीर के आगमन का वृत्तान्त जाना, त्यों ही वह उठ खड़ा हुआ। उसने सोचा-दूसरे किसका सहारा लिया जाय! जो संसार के सहारे हैं, उनका सहारा ही मेरे लिए पर्याप्त है।

सुदर्शन सेठ अर्जुन माली के सामने गया। अर्जुन माली मुद्गर उछालता हुआ सुदर्शन सेठ के सामने आया। उस समय क्या भगवान् महावीर वहाँ मौजूद थे?

'नहीं'!

मगर भगवान् महावीर का पुरुषवरगन्धहस्तीपन सुदर्शन सेठ के हृदय में अवश्य मौजूद था। सुदर्शन के हृदय में यह कामना भी नहीं थी कि–'प्रभो! मुझे अर्जुन के मुद्गर से बचा लेना'। किसी प्रकार की कामना न करके भगवान् महावीर के गन्धहस्तीपन को हृदय में स्थापित करने वाले में ही भगवान् का निवास होता है।

अर्जुन माली लाल-लाल आँखें निकाल कर क्रूरता पूर्वक जब सुदर्शन के सामने आया, तब भी सुदर्शन ने यह विचार नहीं किया कि-'प्रभो! मुझे बचाना'! प्रत्युत उसने यह विचार किया कि प्रभो! अर्जुन के प्रति मुझे क्रोध न आवे और जब अर्जुन मुझ पर मुद्गर का प्रहार करे तब भी आपका ध्यान अखण्ड बना रहे। अर्जुन मुझे मित्र प्रतीत हो, शत्रुता का भाव हृदय में उत्पन्न न हो।

जो लोग सुदर्शन की भाँति परमात्मा से निर्वैर एवं निर्विकार बुद्धि की ही याचना करते हैं, उन्हीं का मनोरथ पूर्ण होता है। इस बात पर दृढ़ प्रतीति होते ही विरुद्ध वातावरण अनुकूल हो जाता है।

औरों के उपदेश में भाषा का लालित्य और शाब्दिक सौन्दर्य भले ही अधिक मिले, लेकिन भगवान् महावीर के उपदेश में जो विचित्रता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल

सकती। लोग आज उनकी शक्ति पर विचार नहीं करते, इसी से दुःख पा रहे हैं। सुदर्शन ने भगवान् की शक्ति पहचानी थी।

निर्विकार और निर्वैर रहने की भावना पर नास्तिक को चाहे विश्वास न हो, नास्तिक भले ही शास्त्रों पर और हिंसा पर विश्वास रक्खे, लेकिन सच्चा आस्तिक तो निर्विकार एवं निर्वैर भावना पर ही विश्वास करता है। यद्यपि हिंसा में भी शक्ति है, हिंसा की शक्ति पर श्रावकों ने भी संग्राम किये हैं, भरत और बाहुबली भी लड़े हैं, लेकिन अन्तिम विजय अहिंसा की ही हुई है। जैनों को भगवान् महावीर के अहिंसा-सिद्धान्त पर ही पूर्ण विश्वास है। इस लिए बमबाज़ बमों से, लट्ठबाज़ लट्ठों से चाहे मारते रहें लेकिन जैन फिर भी अहिंसा का ही उपयोग करेगा। वह अपनी उच्च भूमिका से नीचे नहीं उतर सकता।

श्रोतागण! आप वीरों के शिष्य हैं। घर में घुसकर छिप बैठने में वीरता या क्षमा नहीं है। जिन्हें दुख में देखकर देखने वाले भी दुखी हो जावें, पर दुख पाने वाले उसे दुख न समझें, बल्कि देखकर दुखी होने वालों को भी सान्त्वना दें-हँसा दें, वही सच्चे वीर हैं। संसार में इससे बढ़कर दूसरी वीरता नहीं हो सकती। दुख को भी सुख रूप में परिणत कर लेना अपनी सम्वेदना शक्ति के प्रभाव से दुःख को सुख रूप में पलट लेना ही भगवान् महावीर की वीरता का आदर्श है।

दरवाजा बन्द करके घर में बैठ रहना वीरता नहीं है, मगर मरने के स्थान पर जाकर भी धैर्य न त्यागने में वीरता है, महावीर का सच्चा अनुयायी भक्त द्वार बंद करके घर में

नहीं छिप रहता, वरन् खुले मैदान में खड़ा हो जाता है और दृढ़ स्वर में कहता है—मेरा प्रभु पुरुषवरगन्धहस्ती है। मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है?

लोकोत्तम-लोकनाथ—

श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से कहते हैं—भगवान् महावीर पुरुषसिंह हैं, पुरुष पुण्डरीक हैं और पुरुष गंधहस्ती हैं। इन उपमाओं के कारण भगवान् पुरुषोत्तम हैं। मगर वह केवल पुरुषोत्तम ही नहीं हैं, लोकोत्तम भी हैं। लोक शब्द से स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक तीनों का ग्रहण होता है। तीनों लोकों में जो ज्ञान आदि गुणों की अपेक्षा सब में प्रधान हो वह लोकोत्तम कहलाता है।

पुरुषोत्तम और लोकोत्तम विशेषणों के अर्थ में अन्तर है। पुरुषोत्तम विशेषण से मनुष्य लोक में ही उत्तमता प्रकट की गई है अर्थात् भगवान् समस्त मनुष्यों में उत्तम थे, यह भाव प्रदर्शित किया गया है और लोकोत्तम विशेषण का तात्पर्य यह है कि भगवान् तीनों लोकों में रूप की अपेक्षा उत्तम होने के साथ-साथ तीनों लोकों के नाथ भी हैं। तीन लोक के नाथ होने से भगवान् लोकोत्तम हैं। नाथ शब्द का अर्थ है—

योगक्षेमकरो नाथः।

अर्थात् योग और क्षेम करने वाला नाथ कहलाता है।

योग का अर्थ है—अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना और क्षेम का अर्थ है—प्राप्त वस्तु की संकट के समय रक्षा होना। भगवान् योग भी करने वाले हैं और क्षेम भी करने वाले हैं,

अतः वह नाथ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र आदि सद्गुण, जो आत्मा को अनादि काल से अब तक प्राप्त नहीं हैं, उन्हें भगवान् प्राप्त कराने वाले हैं। और यदि यह सद्गुण प्राप्त हो गये हैं तो किसी संकट के समय इन से विचलित होना सम्भव है, मगर भगवान् इनकी रक्षा करते हैं।

सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की रक्षा भगवान् किस प्रकार करते हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् का साधक जीवन धार्मिक दृढता का ज्वलंत उदाहरण है। घोर से घोर उपसर्ग आने पर भी भगवान् अपने निश्चित पथ से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए। उनके जीवन का यह व्यावहारिक आदर्श संकट के समय उनके भक्तों को अद्भुत प्रेरणा, असीम साहस, दृढ़ता और सान्त्वना प्रदान करता है। उनके आदर्श का स्मरण करके भक्त जन संकट को-विचलित हुए बिना सहज ही पार कर लेते हैं। इस प्रकार उनके भक्तों के सद्गुणों की रक्षा होती है। इसी प्रकार भगवान् का उपदेश भी सद्गुणों की रक्षा में सहायक होता ह।

संसार में सामान्यतया देवता और इन्द्र पूज्य माने जाते हैं। लोग उनकी पूजा करते हैं। मगर इन्द्र आदि देवता भी भगवान् को ही पूजनीय मानते हैं। भगवान् उनके भी नाथ हैं। भगवान् देवाधिदेव हैं। इस विशेषता को सूचित करने के लिए भगवान् को 'लोकनाथ' विशेषण लगाया गया ह।

लोकप्रदीप—

लोक के नाथ होने के साथ ही भगवान् लोक-प्रदी भी हैं-लोक के लिए दीपक के समान हैं। भगवान् लोक यथावस्थित वस्तु-स्वरूप दिखलाते हैं, इसलिए लोकप्रदी हैं। अन्धकार से आच्छादित वस्तुओं को दीपक प्रकाशित क देता है, इसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण आच्छा दित वस्तुके वास्तविक स्वरूप को भगवान् प्रकाशित करते हैं

घरका दीपक घर में प्रकाश करता है, कुल का दीप कुल में प्रकाश करता है, नगर का दीपक नगर में प्रका करता है और देश का दीपक देश में प्रकाश करता है। जं जहाँ प्रकाश करता है वह वहीं का दीपक कहलाता है भगवान् सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करते हैं, इसलिए वह लो के दीपक कहलाते हैं। इसी कारण उन्हें जगदीश्वर कहते हैं

अथवा भगवान्, मनुष्य, तिर्यञ्च देव आदि के हृद में मिथ्यात्व के अन्धकार को मिटा कर, सम्यक्त्व का ऐस अपूर्व एवं अलौकिक प्रकाश देते हैं कि वैसा प्रकाश संसार क कोई भी प्रकाशवान् पदार्थ नहीं दे सकता। भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है—

रवि शशि न हरे सो तम हराय।

अर्थात्-जो अन्धकार सूर्य और चन्द्रमा भी नहीं मिटा सकते, वह अन्धकार भगवान् मिटा देते हैं।

द्रव्य-अन्धकार की अपेक्षा भाव-अन्धकार अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होता है। द्रव्य अन्धकार इतना हानिकारक

नहीं होता, जितना भाव-अन्धकार होता है। भाव-अन्धकार होने पर मनुष्य की आँखें द्रव्य प्रकाश की विद्यमानता में भी वस्तु-तत्त्व को देखने में असमर्थ हो जाती है। भाव अन्धकार मनुष्य की समस्त इन्द्रियों को, यहाँ तक कि मन और चेतना को भी बेकार बना डालता है। भगवान् भाव-अन्धकार को हरने वाले दिव्य दीपक हैं अतएव 'लोकप्रदीप' हैं। यह विशेषण द्रष्टा लोक की अपेक्षा कहा गया है, क्योंकि भगवान्, द्रष्टा अर्थात् देखने वाले के लिए दीपक का काम देते हैं, लेकिन हैं वह सारे संसार को प्रकाशित करने वाले।

प्रश्न हो सकता है कि लोक किसे कहते हैं ? उसका उत्तर यह है कि लोकि विलोकने धातु से 'लोक' शब्द बना है। जो देखा जाय वह लोक है। यों तो सभी को लोक दिखाई देता है, मगर जिसे सब लोग देखते हैं उसी को लोक माना जाय तो लोक के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। अतएव साधारण मनुष्य के देखने में जो आता है वही लोक नहीं है, अपितु ज्ञानावरण का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर, सर्वज्ञ भगवान् को जो दीखता है वह लोक है।

यहाँ फिर तर्क किया जा सकता है कि सर्वज्ञ भगवान् क्या अलोक को नहीं देखते ? अगर अलोक को देखते हैं तो अलोक भी लोक हो जाएगा। अगर अलोक को भगवान् नहीं देखते तो वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कैसे कहलाएँगे ? इस का उत्तर यह है कि आकाश के जिस भाग में पंचास्तिकाय दिखाई देता है वह भाग लोक कहलाता है और जिस भाग में पंचास्तिकाय नहीं है, केवल आकाश ही आकाश है वह अलोक कहलाता है। भगवान् सम्पूर्ण संसार के वस्तु-स्वरूप को देखते हैं, अतएव वे लोक के सूर्य कहलाते हैं।

लोक प्रद्योतकर—

भगवान् लोक-प्रद्योतकर भी हैं। संसार के समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप केवल ज्ञान द्वारा जानकर प्रकाशित करने वाले हैं। उन्होंने केवल ज्ञान रूपी प्रकाश से जानकर छद्मस्थ जीवों को लोक का स्वरूप प्रदर्शित किया है, अतएव भगवान् सूर्य हैं।

भगवान् के केवल ज्ञान रूपी प्रभाकर से प्रवचन रूपी प्रभा का उद्‌गम हुआ है। उस प्रवचन रूपी प्रभा से यह सिद्ध होता है कि भगवान् में केवल ज्ञान का प्रकाश विद्यमान था। जैसे प्रकाश के होने से सूर्य जाना जाता है, वैसे ही प्रवचन की प्रभा से यह जाना जाता है कि भगवान् में केवल ज्ञान रूपी प्रकाश है और इसी कारण गणधरों ने भगवान् को लोक का सूर्य कहा है। यद्यपि सूर्य के प्रकाश से समस्त संसार के समस्त पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकते—सूर्य सिर्फ स्थूल जड़ पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है, और वह भी सदा के लिए नहीं किन्तु कुछ ही समय के लिए प्रकाशित करता है; और भगवान् चौदह राजू लोक को-समस्त संसार के समस्त स्थूल, सूक्ष्म, रूपी, अरूपी, जड़-चेतन को प्रकाशित करते हैं। ऐसी अवस्था में भगवान् को सूर्य की उपमा देना ही हीनोपमा ही कहा जा सकता है, मगर उपमा के बिना वस्तु का स्वरूप सर्व साधारण को सुगमता से समझ में नहीं आता और संसार में सूर्य से बढ़कर प्रकाश देने वाला कोई पदार्थ नहीं है। इसी कारण भगवान् को सूर्य की उपमा देनी पड़ती है।

अभयदए—

सभी अपने-अपने अभीष्ट देव की प्रशंसा करते हैं। जैसे तीर्थंकर के अनुयायी तीर्थंकर भगवान् को लोक-प्रद्योतकर मानते हैं, उसी प्रकार हरि, हर ब्रह्मा आदि के अनुयायी उन्हें भी लोक-प्रद्योतकर मानते हैं। सूर्य भी लोक में उद्योत करने वाला है। फिर हरि, हर, ब्रह्मा और सूर्य से भगवान् में क्या विशेषता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भक्तों के विशेषण लगा देने से ही भगवान् में विशेषता नहीं आ जाती। शाब्दिक विशेषण से ही वस्तु पलट नहीं सकती। भगवान् में हरि, हर आदि देवताओं से जो विशेषता है, वह भगवान् के सिद्धान्तों से स्वतः प्रकट हो जाती है। भगवान् के सिद्धान्तों में क्या विशेषता है, यह देखना चाहिए। यही बात दिखाने के लिए भगवान् को 'अभयदए' विशेषण लगाया गया है।

भगवान् की एक विशेषता यह है कि वह अभयदाता हैं। भगवान् के प्राण हरण करने के उद्देश्य से आने वाले पर भी भगवान् की अपूर्व अनुकम्पा-अखण्ड करुणा रही। मारने वाला कषाय के भयङ्कर ताप से तप्त होता था, तब भगवान् ने अपनी अद्भुत दया के शीतल प्रवाह से उसे शान्ति पहुँचाने का ही प्रयत्न किया। चण्डकौशिक क्रोध की लपलपाती ज्वालाओं में झुलस रहा था और भगवान् को भी झुलसाना चाहता था परन्तु भगवान् के अन्तःकरण से करुणा के नीरकण ऐसे निकले कि चण्डकौशिक का भी अन्तःकरण शान्त हो गया और उसे स्थायी शान्ति का पथ मिल गया।

भगवान् ने अनुकम्पा को अपने जीवन में मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा दया को जीवित

किया और जनता को अभयदान देने का उपदेश दिया, जिस से संसार से भय मिट कर अभय का साम्राज्य छा जावे। 'सव्वेसु दाणेसु अभयप्पयाणं' अर्थात् अभयदान सभी दानों में श्रेष्ठ है, इस सत्य की भगवान् ने घोषणा की।

यह भगवान् की विशेषता है। कदाचित् सूर्य के साथ 'लोकप्रद्योतकर' विशेषण लगा दिया जाय, तब भी सूर्य अभयदान नहीं दे सकता। इसी प्रकार हरि, हर आदि के जो चरित्र उनके भक्तों के लिखे हुए उपलब्ध हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि हरि-हर आदि ने बड़े-बड़े भीषण युद्ध कर के दैत्यों को मारा और वे दैत्यारि कहलाए। इस प्रकार युद्ध करने और मारने की बात तो उनके चरित्र में लिखी गई है, मगर यह नहीं लिखा कि उन्होंने मारने के उद्देश्य से आने वाले पर भी करुणा प्रदर्शित की–मारने वाले को भी अभयदान दिया। यह विशेषता तो केवल तीर्थंकरों में ही है। विष्णु दैत्यारि और त्रिशूलधारी कहलाते हैं, लेकिन तीर्थंकरों जैसी दया-भावना वहाँ कहाँ है? तीर्थंकरों के चरित्र दया के अनुपम आदर्श हैं और अब भी संसार में दया का जो गुण विद्यमान है वह उन्हीं परम पुरुषों के जीवन की थोड़ी-बहुत वसीयत है।

कहा जा सकता है कि शिव, विष्णु आदि के संबंध में हिंसात्मक जो वर्णन हैं वह सब आलंकारिक हैं। वास्तव में उन्होंने आन्तरिक दैत्यों से अर्थात् काम, क्रोध, मद, मोह आदि से युद्ध किया था और उन्हीं को मारा था। अगर यह कथन सत्य मान लिया जाय तो उनमें और तीर्थंकरों में अंतर ही क्या रहा? हम तो उसी के प्रशंसक हैं–उसी के उपासक हैं, जिसमें तीर्थंकरों की सी दया है। जिसमें तीर्थंकरों की दया

है वही तीर्थंकर है। नाम किसी का कुछ भी हो, जिसमें तीर्थंकर भगवान् के समस्त गुण विद्यमान हो, वह हमारा उपास्य देव है। कहा भी है—

> यत्र तत्र समये यथा तथा,
> योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
> वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्,
> एक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते॥

अर्थात् किसी भी परम्परा में, किसी भी नाम से, किसी भी रूप में आप क्यों न हो, अगर दोषों की कलुषता से रहित हैं-पूर्ण वीतराग हैं, तो सभी जगह एक हैं। ऐसे हे भगवान्! आपको मेरा प्रणाम है।

नाम पूजनीय नहीं होता, वेष वन्दनीय नहीं होता पूजा वन्दना गुणों की होती है और होनी चाहिए। अगर हरि-हर आदि की दया-भावना अर्हन्तों जैसी ही मानी जाय तो वह भी अर्हन्त ही हो जाएँगे। मगर ऐसा मानने में जो बाधा उपस्थित होती है वह यही है कि उनके संबंध में पुराणों में लिखी हुई कथाएँ मिथ्या माननी होंगी, क्योंकि अनेक कथाओं का समन्वय इस दया भावना से नहीं किया जा सकता।

भगवान् अपना अपकार करने वाले पर भी जो लोकोत्तर दया दिखलाते हैं वह असदृश है, असाधारण है, उसकी तुलना भगवान् की ही दयासे की जा सकती है, किसी और

की दया से नहीं। भगवान् की दया से प्राणी तात्कालिक निर्भयता ही प्राप्त नहीं करता, मगर सदा के लिए अभय बन जाता है। इसी कारण भगवान् 'अभयदए' है।

चक्खुदए-मग्गदए

भगवान् में केवल अनर्थ-परिहार अर्थात् दुःख से मुक्ति देने का ही गुण नहीं है, अपितु अर्थ अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति भी कराते हैं।

भगवान् स्वयं अकिंचन् हैं—उनके तन पर वस्त्र नहीं, साथ में कोई संपदा नहीं, तिल-तुष मात्र परिग्रह नहीं, किसी भी वस्तु को पास रखते नहीं, फिर वे इच्छित अर्थ कैसे और कहां से देते हैं? इसका समाधान यह है कि संसार के मोह एवं अज्ञान से आवृत जन जिसे अर्थ कहते हैं वह वास्तव में अर्थ नहीं, अनर्थ है। वह अर्थ-अनर्थ इस कारण है कि उससे दुःखों की परम्परा का प्रवाह चालू होता है। जो दुःख का कारण है, उसे अनर्थ न कह कर अर्थ कैसे कहा जा सकता है? भगवान् अनर्थ से छुड़ाने वाले हैं और अर्थ को देने वाले हैं। अर्थ वह है जिससे दुःख का दावानल शान्त होता है और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। भगवान् ऐसे ही अर्थ को देने वाले हैं, क्योंकि वे 'चक्षु' देने वाले हैं, सुख का मार्ग बताने वाले हैं, शरण देने वाले हैं, धर्म देने वाले हैं और धर्म का उपदेश देने वाले हैं। यह बात एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट रूप से समझी जा सकेगी।

एक धनी आदमी धूर्त्तों के धोखे में आ गया। वह धन लेकर धूर्त्तों के साथ जंगल में गया। जंगल में पहुँच जाने पर

धूर्त्तों ने धनिक को बांध लिया, उसकी आंखों पर पट्टी बांध दी और मार पीट कर, उसका धन छीन कर चलते बने। धनिक बंधा हुआ जंगल में कष्ट पा रहा था। कहीं कुछ भी खटका होता कि उसका हृदय काँपने लगता था। उसके हाथ-पैर बँधे थे, अपनी रक्षा करने में असमर्थ था। इस कारण भय भी अधिक बढ़ गया था।

कुछ समय पश्चात् एक सार्थवाह उधर से निकला। उसके रथ की और घोड़ों के टाप की आवाज़ सुनकर वह धनिक आप ही आप कहने लगा-'अरे भले-मानुसो! तुम ले गये सो ले गये, ले जाओ, अब क्यों कष्ट देने आये हो?' धूर्त्तों की मार से वह इतना घबराया हुआ था कि आहट होते ही वह समझता था कि वही धूर्त्त फिर आ रहे हैं और मुझे फिर मारेंगे।

धनिक की यह चिल्लाहट सुनकर सार्थवाह ने सोचा-मैंने इससे कुछ भी कहा नहीं, इसका कुछ किया भी नहीं; फिर भी यह जो कुछ कह रहा है, उससे प्रकट है कि यह सताया गया है और भयभीत है। मुझे धूर्त्त समझने में इस बेचारे का कोई अपराध नहीं है, क्योंकि इसकी आंखों पर पट्टी बँधी हुई है।

यह सोचकर सार्थवाह ने कहा—'भाई! डरो मत। मैं तुम्हें दुःख से मुक्त करने आया हूँ।'

सार्थवाह के यह कहने पर भी इस भयभीत की आशंका न मिटी। वह मन में सोचता रहा कि कहीं यह भी ठग ही न हो। और मुझे फिर सताने आया हो। सार्थवाह

ने भी सोचा -मैं जिह्वा से कह रहा हूँ कि तुझे भयमुक्त करने आया हूँ, मगर जब तक इसके बंधन न खोल दूँ, तब तक इसे विश्वास कैसे हो सकता है ? बंधन मुक्त होने पर ही यह भयमुक्त होकर विश्वास कर सकेगा।

यह सोचकर सार्थवाह उसके समीप गया और उसने बंधन खोल दिये। बंधन खोलने पर भी उसे पूरा विश्वास न हुआ। लेकिन जब सार्थवाह ने उसकी आंखों की पट्टी भी खोल दी और उसने देख लिया कि यह ठग नहीं-कोई दयालु पुरुष है, तब उसे विश्वास हुआ। उसने कहा-मेरे भाग्य अच्छे थे कि आप जैसे दयामूर्त्ति पुरुष का यहां आगमन हुआ, नहीं तो न जाने कब तक मैं यहां बँधा हुआ कष्ट पाता अथवा किसी जंगली जानवर का भक्ष्य बन जाता।

सार्थवाह के शब्द जब कार्यरूप में परिणित हुए तभी उस धनिक को उन शब्दों पर विश्वास हुआ।

सार्थवाह ने उसकी आंखों की पट्टी खोल दी थी और वह सब कुछ देख सकता था; मगर धूर्त्त लोग उसे इस तरह घुमा फिराकर उस स्थान पर लाये थे कि उसे मार्ग की कल्पना नहीं हुई और दिग्मूढ़ होकर चक्कर में पड़ गया। उसे अपने घर का रास्ता नहीं सूझता था। तब सार्थवाह ने उसे मार्ग भी बता दिया।

सार्थवाह ने उसे घर का मार्ग बता दिया। लेकिन धनिक को भय बना हुआ था कि रास्ते में कहीं फिर धूर्त्त न मिल जाए, इसलिए सार्थवाह ने उसे शरण दी अर्थात् दो-चार सवार उसके साथ कर दिये।

सार्थवाह द्वारा इतना सब कर देने पर भी धनिक अपने घर जाने में सकुचाता था। वह अपना धन खो चुका था। अब वह अपना मुँह घर वालों को कैसे दिखावें ? यह बात जानकर सार्थवाह ने उसे उतना धन भी दिया, जितना उसने गँवाया था।

भगवान् को लोकोत्तम और पुरुषोत्तम कहने के साथ ही 'अभयदय' भी कहा गया है। इसी विशेषण को समझाने के लिए यह दृष्टांत दिया गया है।

संसारी आत्मा धनिक के समान है। आत्मा के पास अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि रूप धन है। काम, क्रोध आदि दुर्गुण ठग हैं। इन ठगों ने संसार की वस्तुओं का आत्मा रूपी धनिक को ऐसा मनोहर एवं आकर्षक रूप दिखाया कि आत्मा इन ठगों के जाल में फँस गया और इन वस्तुओं को ही अपने लिए परम हितकारी मानने लगा। इस प्रकार काम, क्रोध आदि ठगों ने आत्मा को उसके असली घर से बाहर निकाला, संसार रूपी वन में ले जाकर डाल दिया और ज्ञान-नेत्रों पर अज्ञान का पट्टा चढ़ा दिया।

जिसके द्वारा ज्ञान का हरण हो वही सच्चा दुर्गुण है। धन-माल लूट लेने वैसा वाला वैरी नहीं है, जैसा वैरी सद्बुद्धि बिगाड़ने वाला होता है।

अनेक विद्वानों का यह मत है कि औरंगजेब शाही एवं नादिर शाही से भारत की वैसी हानि नहीं हुई थी। क्योंकि उन्होंने सिर्फ शस्त्राघात ही किया था। वास्तविक और महान् हानि तो उस शाही से हुई है, जिसने बुरी-बुरी बातों में फँसा

कर बुद्धि को ही नष्ट कर दिया, साहित्य को गंदा कर दिया, जिससे सत्य का पता लगना ही कठिन हो गया है। धूर्त्त लोग बुद्धि रूपी चक्षु को हरण करके, बुरे कामों में इस तरह फँसा देते हैं कि जिससे छूटना ही कठिन हो जाता है।

वे लोग भूल करते हैं जो धूर्त्तों द्वारा दी हुई चीज के लिए यह समझते हैं कि उन्होंने कृपा करके यह दी है। धूर्त्त लोग जो भी चीज देंगे, वह बुद्धिहरण करने के लिए ही देंगे। भलाई की भावना से किया गया काम और ही तरह का होता है। लेकिन धूर्त्तों ने लोगों की अच्छी वस्तु हरण करके बुरी चीजें उनके गले मढ़ दी हैं।

इस प्रकार आत्मा रूपी सेठ संसार रूपी वन में, बंधन-बद्ध होकर कष्ट पा रहा है। ऐसे समय में अरिहन्त भगवान् के सिवाय और कौन करुणासिन्धु होकर सहायक बन सकता है? कोई प्रकाश प्रदान कर सकता है? कौन उद्धार कर सकता है?

हरि, हर, ब्रह्मा, अनन्त, कुछ भी कहो-जिसने कर्मों का समूल क्षय कर दिया है, जिसने अनन्त प्रकाश-पुंज प्राप्त कर लिया है और जो संसार को अभय देता है, वही हमारा पूज्य है। परन्तु जिस हरि हर आदि को नीच कामनाओं के साथ गूँथ कर लोग अपना स्वार्थ-साधन करते हैं, हम उन के भक्त कैसे हो सकते हैं? कामनाओं के कीचड़ से निकलना ही जिनका एक मात्र उद्देश्य है, जो अपने जीवन को शुद्ध एवं स्वच्छ बनाना चाहते हैं, वे सकाम देवों की उपासना नहीं करेंगे। अरिहन्तों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बुरे काम,

चाहे किसी के नाम पर किये जावें, बुरे ही हैं। बुरे कामों में शरीक होना भले आदमियों का कर्त्तव्य नहीं है।

कल्पना कीजिए, एक आदमी बँधा पड़ा है। दो आदमी उसके पास पहुँचे। उनमें से एक आदमी ने उसे आश्वासन दिया। कहा—'भाई डरो मत, तुम्हारे कष्टों का अन्त आरहा है।' इसके विरुद्ध दूसरा कहता है—'अजी, यह बँधा हुआ है। कुछ विगाड़ तो सकता नहीं, इसके कपड़े छीन डालो।'

बताइए, इन दोनों में कौन उत्तम पुरुष है? आपके हृदय की स्वाभाविक संवेदना किसकी ओर आकृष्ट होती है? निस्सन्देह अभय देने वाला ही उत्तम है और प्रत्येक का हृदय इसी बात का समर्थन करेगा। भगवान् ने किसी को अंधकार में नहीं रक्खा। उन्होंने कहा—पहले मुझे भी पहचान लो। अगर मुझ में अभयदान आदि का गुण दिखाई दे तो मेरी बात मानो, अन्यथा मत मानो। इस प्रकार संसार-वन में अन्धे की तरह बँधे हुए लोगों को भगवान् ने ज्ञान-चक्षु दिये हैं।

जैन धर्म किसी की आँखों पर पट्टा नहीं बाँधता अर्थात् वह दूसरों की बात सुनने या समझने का निषेध नहीं करता। जैनधर्म परीक्षा प्रधानता का समर्थन करता है और जिन विषयों में तर्क के लिए अवकाश हो उन्हें तर्क से निश्चित कर लेने का आदेश देता है। जैनधर्म विधान करता है कि अपने अन्तर्ज्ञान पर से पर्दा हटाकर देखो कि आपको क्या मानना चाहिए और क्या नहीं।

भगवान् ने ज्ञान-चक्षु देकर आत्मा को उसके स्थान का मार्ग बतलाया। भगवान् ने कहा तू मेरी ही आँखों से मत देख-अर्थात् मेरे ही बताये रास्ते पर मत चल, किन्तु तू

स्वयं भी अपने ज्ञान-चक्षु से देख ले कि मेरा बतलाया मा ठीक है या नहीं। तू अपने नेत्रों से भी देखकर मार्ग व निश्चय करेगा तो अधिक श्रद्धा और उत्साह के साथ उ पथ पर चल सकेगा।

मित्रों! किसी के कह देने मात्र के अथवा अमुक शास्त्र के भरोसे मत रहो। अपने आप अपने मार्ग का निश्चय कर अगर स्वतः विचार करने पर दया का मार्ग तुम्हें भला मालू हो, फिर अरिहंत की शरण ग्रहण करना।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि धूर्तों द्वारा ठगा गय वह धनिक अपने घर का पता जानता था, लेकिन हमें क्य मालूम कि हम कहां से आये हैं? ऐसी दशा में हम अपने घर की कैसे खोज करें और कैसे वहां तक पहुँचे?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस समय आपक आत्मा अपना स्थान खोजने के लिए खड़ा हो जायगा, उस समय उसे यह भी मालूम हो जायगा कि उसका घर कहाँ है? आत्मा में यह स्वभाविक गुण है कि खड़ा होने के बाद वह अपने घर की दिशा को जान लेगा, धोखा नहीं खायगा। रात-दिन हिंसा करने में लगा रहने वाले और हिंसा से ही जीवन यापन करने वाले हिंसक प्राणी की आत्मा में भी तेज मौजूद है। लेकिन वह तेज तभी काम आ सकता है जब उसका आत्मा अपना स्थान देखने को और अपना उद्धार करने को खड़ा हो जाता है। वह अपने आपको कब खड़ा कर सकता है और किस प्रकार खड़ा कर सकता है, इस सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है कि वह अपने आत्मा से दूसरों के दुःख का अनुभव करे। एक की हिंसा करने में ही आनन्द

मानने वाले दूसरे हिंसक को ही मारने के लिए यदि कोई तीसरा व्यक्ति आ जाय, तो उस हिंसक व्यक्ति को तीसरा व्यक्ति कैसा लगेगा? बहुत बुरा। उसे दूसरों को मारना तो अच्छा लगता है, मगर जब अपने मरने का समय उपस्थित होता है तो बुरा क्यों लगता है? इस अनुभव के आधार पर ही हिंसक को यह मालूम हो जायगा कि दूसरे को मारना कैसा बुरा है। आत्मा में इस अनुभव के पश्चात् होने वाला गुण पहले ही मौजूद है, पर अज्ञान यह है कि वह अपने भय को तो भय मानता है, लेकिन दूसरे के भय को भय नहीं जानता। जब इस प्रकार का अनुभव करके इस पर विचार करता है कि-'मुझ को मारने वाला मुझे इतना बुरा लगता है तो जिन्हें मैंने मारा है, उन्हें मैं क्यों न बुरा लगा होऊँगा'? इस प्रकार का विचार आते ही वह सोचने लगता है कि यह मुझे मारने नहीं वरन् शिक्षा देने आया है।

हिंसक के हृदय में जब यह पवित्र विचार अंकुरित होता है, तभी उसके जीवन की दिशा बदलने लगती है। वह अपने आत्मा का उद्धार करने के लिए खड़ा हो जाता है। तब क्यों न उसका उद्धार होगा।

आत्मा के उत्थान की यही दिशा है। मनुष्य अपने सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट की तराजू पर दूसरे के सुख-दुःख को एवं इष्ट अनिष्ट को तोले। 'मुझे कोई कष्ट देता है तो वह मुझे अप्रिय लगता है, इसी प्रकार अगर मैं किसी को कष्ट पहुँचाऊंगा तो मैं भी उसे अप्रिय लगूंगा। मुझे सुख-साता प्रिय है, दुःख अप्रिय है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है।' यह आत्मौपम्य की भावना मनुष्य को अनेक

उलझनों में से पारकर ठीक मार्ग बतलाती है। इसी भावना से कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह चक्कर में पड़ जाता है।

भगवान् महावीर ने कर्त्तव्य स्थिर करने के लिए संसारी जीवों के हितार्थ उन्हें 'चक्षु' का दान दिया है। चक्षु दो प्रकार की है-एक इन्द्रियरूपी चक्षु और दूसरी श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु। भगवान् श्रुत ज्ञान रूपी नेत्र के दाता हैं।

श्रुत ज्ञान को चक्षु क्यों कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि चर्म-चक्षु मनुष्य किसी वस्तु को देखकर अच्छी या बुरी समझते हैं। उनका यह ज्ञान सीमित ही है। किसी खास सीमा तक ही वे अच्छाई या बुराई बता सकते हैं। अतएव इन आंखों से दीखने वाली शुभ वस्तु अशुभ भी हो जाती है और अशुभ, शुभ भी दीखने लगती है। इस प्रकार मानवीय चक्षु भ्रामक भी हो जाती है। लेकिन तात्विक अच्छाई या बुराई बताने वाला श्रुत ज्ञान ही है। श्रुत ज्ञान आप्त-जन्य होने के कारण भ्रामक नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि वही मनुष्य सच्चा नेत्रवान् है, जिसे श्रुत का लाभ हुआ है, क्योंकि श्रुत-ज्ञान रूपी चक्षु से वह वस्तु की वास्तविक बुराई या भलाई देख सकता है। श्रुतज्ञान रूपी चक्षु से ही यह जाना जा सकता है कि यह पदार्थ हेय है, यह उपादेय है और यह उपेक्षणीय है। अतएव जिसे श्रुत नेत्र प्राप्त नहीं है, उसे अन्धा ही समझना चाहिये।

जैसे जंगल में अन्धे हुए धनिक की आँखें खोल देने से और उसे अभीष्ट मार्ग बताने से सार्थवाह चक्षुर्दय और मार्गदय कहलाता है, उसी प्रकार संसार रूपी वन में, रागादि

विकार रूपी ठगों ने, आत्मा रूपी धनिक को बाँध कर इसका धर्म रूपी धन छीन लिया है और कुवासना की पट्टी बांध कर इसे अंधा बना दिया है और विपत्ति में डाल दिया है। भगवान् महावीर आत्मा के ज्ञान नेत्र पर पड़े हुए पर्दे को हटा-कर श्रुतधर्म रूपी चक्षु देते हैं और निर्वाण का मार्ग बतलाते हैं। इस कारण भगवान् चक्षुदाता और मार्ग दाता है।

सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्न-त्रय मोक्ष का मार्ग है। भगवान् ने इसका वास्तविक स्वरूप जगत् को प्रदर्शित किया है, अतएव वह मुक्तिमार्ग के दाता कहलाते हैं।

जैसे संसार में मार्ग भूले हुए को और चोरों से लुटे हुए को नेत्र देकर निरूपद्रव स्थान पर भेज देने वाला उप-कारी माना जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रुत धर्म रूपी चक्षु देकर, मोक्ष रूपी निर्विघ्न स्थान में पहुँचा देते हैं। वहाँ पहुँच कर जीव सदा के लिए अनन्त सुख का भोक्ता और सभी प्रकार की उपाधियों से रहित बन जाता है। अतएव भगवान् परमोपकारी हैं।

शरणादय

चक्षुदाता और मार्गदाता होने के साथ ही भगवान् शरणदाता भी हैं। शरण का अर्थ है-त्राण। आने वाले तरह-तरह के कष्टों से रक्षा करने वाले को शरणदाता कहते हैं। भगवान् की शरण में आने पर जीव को कष्ट नहीं होते। भगवान् की शरण ग्रहण करने से जीव निर्वाण को प्राप्त करता है, जहाँ किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। यही नहीं,

भगवान् की शरण में आने वाला जीव मोक्ष जाने से पहले भी-संसार में रहता हुआ ही कष्टों से मुक्त हो जाता है। वह समताभाव के दिव्य यन्त्र में डालकर दुःख को भी सुख के रूप में पलटने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

संसारी जन मोह एवं अज्ञान के कारण कुटुम्बी जनों को, धन-दौलत को और सेना आदि को शरणभूत समझ लेते हैं। मगर सूर्य के प्रकाश की तरह यह स्पष्ट है कि वास्तव में इन सब वस्तुओं में शरण देने की शक्ति नहीं है। जब असातावेदनीय के तीव्र उदय से मनुष्य दुःख के कारण व्याकुल बन जाता है तब कोई भी कुटुम्बी उसका त्राण नहीं कर सकता। काल रूपी सिंह, जीव रूपी हिरन पर जब झपटता है तब कोई रक्षण नहीं कर सकता। सेना और धन अगर रक्षक होते तो संसार के असंख्य भूतकालीन सम्राट् और धनकुबेर इस पृथ्वी पर दिखाई देते। मगर आज उन में से किसी का अस्तित्व नहीं है। सभी मृत्यु के शिकार हो गये। विशाल सेना खड़ी रही और धनसे परिपूर्ण खजाने पड़े रहे-किसी ने उसकी रक्षा नहीं की। जब संसार का कोई भी पदार्थ स्वयं ही सुरक्षित नहीं है तो वह किसी दूसरे की सुरक्षा कैसे कर सकता है? संसार को त्राण देने की शक्ति केवल भगवान् में ही है। वही सच्चे शरणदाता हैं।

धर्मोपदेशक-धर्मदाता

भगवान् की शरण कैसे मिल सकती है? इसका उत्तर भगवान् के 'धर्मोपदेशक' विशेषण में निहित है। भगवान् धर्मोपदेशक हैं-धर्म का उपदेश देते हैं। धर्म दो प्रकार का है-

श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। भगवान् इन दोनों धर्मों का वास्तविक मर्म बतलाते हैं, अतएव वह धर्मोपदेशक हैं।

अथवा—जिस प्राणी को चारित्रधर्म प्राप्त नहीं है, उसे भगवान् के सदुपदेश से चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है। इस कारण भगवान् धर्मोपदेशक हैं। भगवान् के परम अनुग्रह से चारित्रधर्म होता है। चारित्रधर्म की प्राप्ति कराने के कारण भगवान् परम-उपकारी हैं।

धर्मसारथि

भगवान् धर्मोपदेशक ही नहीं, धर्म-सारथि भी हैं। सारथि उसे कहते हैं जो रथको निरुपद्रव रूप से चलाता हुआ रथ की रक्षा करता है, रथी की रक्षा करता है, और रथ में जुते हुए घोड़ों की रक्षा करता है। भगवान् धर्म-रथ के सारथि हैं।

भगवान् ने हम लोगों को धर्म के रथ में बिठलाया है और आप स्वयं सारथि बने हैं। भले ही यह कथन आलंकारिक हो, मगर तथ्यहीन नहीं है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि वे अर्जुन के सारथि बने थे। उन्होंने अर्जुन को रथ में बिठलाया और आप सारथि बने। भगवान् महावीर भी धर्म-रथ के सारथि हैं। लेकिन रथ में बैठने वाला जब अर्जुन जैसा हो, तब कृष्ण जैसे सारथि बनते हैं।

भगवान् धर्म रथ में बैठने वालों के सारथि बन कर उन्हें निरुपद्रव स्थान-मोक्ष में पहुँचा देते हैं।

भगवान् भी धर्म की सेवा करते हैं। वह स्वयं धर्म के सारथि बने हैं। भगवान् का यह आदर्श उन लोगों के लिए विचारणीय है जो अपनी ही सेवा करना चाहते हैं और धर्म की सेवा से दूर भागना चाहते हैं। धर्म करना एक बात है और धर्म की सेवा-रक्षा करना दूसरी बात है। धर्म की सेवा-रक्षा करना बड़ा काम है।

भगवान् के लिए यह उपमा इसलिए दी जाती है कि चारित्र रूपी, संयमरूपी या प्रवचनरूपी रथ में जो बैठते हैं या उस रथ में बैठने वालों के जो सहायक हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

धर्मवर चातुरन्त-चक्रवर्त्ती—

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भगवान् महावीर को जो विशेषण लगाये गये हैं, वह विशेषण तो दूसरों ने भी अपने इष्ट देवों को लगाये हैं। तब उनमें और भगवान् महावीर में क्या अन्तर है? वे और भगवान् क्या समान ही हैं? अगर समानता नहीं है तो भगवान् में क्या विशेषता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भगवान् महावीर में दूसरों से विशेषता है। वह विशेषता यह है कि भगवान् धर्म के चक्रवर्त्ती हैं।

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण-इन तीन दिशाओं में समुद्र पर्यन्त और उत्तर दिशा में चूलहिमवन्त पर्वत पर्यन्त के भूमिभाग का जो अन्त करता है-अर्थात् इतने विशाल भूखंड पर जो विजय प्राप्त करता है, इतने में जिसकी अखंड और अप्रतिहत आज्ञा चलती है, अर्थात् जो उसका एक मात्र अधिपति

होता है उसे चतुरन्त कहते हैं। ऐसा चतुरन्त चक्रवर्त्ती होता
है। 'चतुरन्त' पद चक्रवर्त्ती का विशेषण है।

भगवान् 'वर-चाउरंत चक्कवट्टी' हैं अर्थात् चक्रवर्तियों
में प्रधान चक्रवर्त्ती हैं। वह सब चक्रवर्त्ती राजाओं से ऊपर
चक्रवर्त्ती राजा हैं। एक चक्रवर्त्ती विजय प्राप्त करके पूर्वोक्त
सीमा में चारों ओर अपनी आज्ञा फैला ले, और अपना
साम्राज्य स्थापित कर ले, लेकिन उस चक्रवर्त्ती पर भी आज्ञा
चलाने वाला कोई दूसरा चक्रवर्त्ती हो तो वह दूसरा चक्रवर्त्ती
प्रधान चक्रवर्त्ती कहलाएगा। वह चक्रवर्त्ती का भी चक्रवर्त्ती है।

भगवान् को यहाँ धर्म-चक्रवर्त्ती कहा है। भगवान्
धर्म के चक्रवर्त्ती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् के
तत्त्व के सामने संसार का कोई भी माना हुआ तत्त्व नहीं ठहर
सकता। जिस प्रकार सब राजा, चक्रवर्त्ती के अधीन होते
हैं-चक्रवर्त्ती के विशाल साम्राज्य में ही सब राजाओं का राज्य
अन्तर्गत हो जाता है, अन्य राजाओं का राज्य चक्रवर्त्ती के
राज्य का ही एक अंश होता है, इसी प्रकार संसार के समस्त
धर्म-तत्त्व भगवान् के तत्त्व के नीचे आ गये हैं। भगवान्
का अनेकान्त तत्त्व चक्रवर्त्ती के विशाल साम्राज्य के समान
है और अन्य धर्मप्ररूपकों के तत्त्व एकान्त रूप होने के कारण
राजाओं के राज्य के समान हैं। सभी एकान्त रूप धर्मतत्त्व,
अनेकान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं।

चक्रवर्त्ती लोभ से ग्रस्त हो कर या साम्राज्यलिप्सा के
कारण साम्राज्य की स्थापना नहीं करता। वह अधिक से
अधिक भूमिभाग में एकरूपता एवं संगठन करने के उद्देश्य
से साम्राज्य स्थापित करता है। चक्रवर्त्ती अपने राज्य में

किसी को गुलाम नहीं रखना चाहता। वह चाहता है कि मेरे राज्य में कोई दुःखी अथवा भूखा न रहे और मेरे राज्य में अन्याय न हो। चक्रवर्त्ती अपने राज्य में सभी को स्थान देता है, मगर उन्हें अपनी छत्र-छाया में रखना चाहता है।

भगवान् का स्याद्वाद, सिद्धान्तों का चक्रवर्त्ती है। इस सिद्धान्त के माहात्म्य से सभी प्रकार के विरोधों का अन्त आ जाता है। प्रतीत होने वाले विरोध को नष्ट कर देना स्याद्वाद का लक्षण है। कहा भी है-'विरोधमथनं हि स्याद्वादः।' अर्थात् विरोध का मथन कर देना ही स्याद्वाद है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त सब झगड़े मिटाकर शान्ति स्थापित करने का अमोघ साधन है। इसका आश्रय लेने पर सभी धर्मों के अनुयायी एक ही झंडे के नीचे आजाते हैं। स्याद्वाद ने सभी सिद्धान्तों को अपने में यथायोग्य स्थान दिया है और सम्पूर्ण सत्य को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अतिशय विशाल भाव वाला भगवान् का राज्य है।

धर्म में जो प्रधान चक्रवर्त्ती है वही धर्मवर चक्रवर्त्ती कहलाता है। जैसे समुद्र में मिल जाने पर नदियों में भेद नहीं रहता, उसी प्रकार धर्मों के सार भगवान् के सिद्धान्त में आकर एक हो जाते हैं—उनमें भेद नहीं रहता। यह भगवान् का धर्म के विषय में चक्रवर्त्ती पन है।

पार्थिव चक्रवर्त्ती के विषय में कहा जाता है कि वह अन्यान्य राजाओं की अपेक्षा अत्यन्त अतिशयशाली एवं प्रजा का पालक होता है। ग्रंथों से विदित होता है कि चक्रवर्त्ती प्रजा से उसकी आय का चौसठवाँ भाग कर लेता है। कम कर लेकर प्रजा को अधिक सुखी एवं समृद्ध बनाने वाला

पूर्वोक्त राजा चक्रवर्ती कहलाता है। जो स्वार्थ से प्रेरित होकर नये-नये कर प्रजा से वसूल करता है, प्रजा जिसकी शरण में स्वेच्छा से नहीं अपितु भय के कारण जाती है, वह राजा नहीं, चक्रवर्ती भी नहीं हो सकता। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में देखने से ज्ञात होगा कि सच्चा राजा कौन हो सकता है और राजा का कर्त्तव्य क्या है ?

संसार में जितने भी धर्मोपदेशक हुए हैं, उनमें सब से उत्तम और बाधा रहित शक्ति से उपदेश करने वाले भगवान् महावीर हैं। इसी कारण उन्हें धर्म का चक्रवर्ती कहा गया है। चक्रवर्ती उच्च-नीच और छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं रखता, किन्तु समानभाव से सभी को अपने राज्य में स्थान देता है। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने अपने धर्म में स्त्री-शूद्र आदि के भेदभाव को स्थान नहीं दिया है। भगवान् के धर्म में सभी को समान अधिकार प्राप्त है। जिस में जितनी योग्यता हो वह उतना धर्म का अनुष्ठान कर सकता है। जहाँ जाति-पांति के कल्पित भेदभावों को स्थान है, वह वास्तव में धर्म ही नहीं है।

चक्र अनेक प्रकार के होते हैं। राज्यचक्र भी चक्र कहलाता है और धर्मचक्र भी चक्र ही है। धर्मचक्र उनमें प्रधान है। धर्मचक्र के प्रवर्त्तक अनेक हुए हैं। कपिल, सुगत आदि ने जो धर्मचक्र चलाये हैं, उनकी अपेक्षा भगवान् का धर्मचक्र अत्यन्त अतिशयशाली और सब में प्रधान है। इस कारण भी भगवान् को धर्मचक्रवर्त्ती कहा गया है।

अथवा-दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध

धर्म का उपदेश एवं प्रसार करने के कारण भगवान् धर्मवर-चातुरन्त-चक्रवर्त्ती कहलाते हैं।

दान, धर्म उत्पन्न होने की भूमि है। दान से ही धर्म होता है। दूसरे से कुछ भी लिये बिना किसी का जीवन ही नहीं निभ सकता। माता-पिता, पृथ्वी, अग्नि आदि से कुछ न कुछ सभी को ग्रहण करना पड़ता है। मगर जो ले तो लेता है, मगर बदले में कुछ नहीं देता वह पापी है।

कई लोग दान देकर अभिमान करते हैं, इसलिए भगवान् ने कहा है कि दान के साथ शील का भी पालन करो अर्थात् सदाचारी बनो।

तप के अभाव में सदाचार भ्रष्ट हो जाता है। सदाचार को स्थिर रखने के लिए तप अनिवार्य है। अतएव भगवान् ने तप का उपदेश दिया है। तप का अर्थ केवल अनशन करना ही नहीं है। तप की व्याख्या बहुत विशाल है। भगवान् ने बारह प्रकार के तपों का वर्णन किया है। भगवान् ने कहा है कि तप के बिना मन, शरीर और इन्द्रियाँ ठीक नहीं रहती।

भावनाहीन तप यथेष्ट फलदायक नहीं होता। अतः धर्म में भाव की प्रधानता है। 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः' अर्थात् भावशून्य क्रियाएँ काम की नहीं हैं।

भगवान् ने धर्म के यह चार विभाग बतलाये हैं। ऐसे विभाग दूसरे धर्मोपदेशकों ने नहीं बतलाये हैं। इन चार धर्मों को चतुरन्त या चातुरन्त कहा गया है भगवान् इस धर्म के चक्रवर्त्ती हैं।

अथवा-देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरक गति का अन्त करने वाला चतुरन्त कहलाता है। ऐसे चतुरन्त श्रेष्ठ धर्म का उपदेश देने के कारण भगवान् धर्मवरचतुरन्त-चक्रवर्त्ती कहलाते हैं।

शास्त्रकारों को न तो स्वर्ग से प्रीति थी और न उन्होंने स्वर्ग प्राप्ति के लिए उपदेश ही दिया है। उन्होंने चारों गतियों का यथार्थ स्वरूप बतलाकर उनका अन्त करने का उपदेश दिया है। यही नहीं, शास्त्रकारों ने समय-समय पर स्वर्ग की निन्दा भी की है और कहा है कि स्वर्ग ऐसा स्थान है जहाँ पहुँच कर जीव का पतन भी हो सकता है।

चारों गतियों का अन्त करने के लिए भवसंतति का छेदन करना आवश्यक है। एक गति से दूसरी गति में आना और दूसरी के बाद तीसरी गति में उत्पन्न होना भवसंतति है। इस भव-परम्परा को खंडित कर देना ही चार गतियों का अन्त करना कहलाता है।

अप्रतिहत ज्ञान-दर्शनधर

भगवान् के लिए जो चक्षुदाता, मार्गदाता आदि विशेषण लगाये गये हैं, वह लोकोत्तर ज्ञान-सम्पन्न पुरुष में ही पाये जा सकते हैं, साधारण पुरुष में नहीं। भगवान् में क्या लोकोत्तर ज्ञान था? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीसुधर्मा स्वामी ने कहा है—भगवान् अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक थे। अप्रतिहत का अर्थ है किसी से बाधित न होने वाला, किसी से न रुकने वाला। पदार्थ की सूक्ष्मता, देश और काल सम्बन्धी व्यवधान, ज्ञानावरण कर्म आदि हमारे ज्ञान के

बाधक हैं। मगर भगवान् के ज्ञान में इनमें से कोई भी बाधक विद्यमान नहीं है। पदार्थ चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म हो, कितनी ही दूर हो या पास, हो, भूतकाल में हो या भविष्यकालीन हो, भगवान् का ज्ञान समस्त पदार्थों को हथेली पर रक्खे हुए पदार्थ की भांति स्पष्ट रूप से जानता है। देश, काल या पदार्थ सम्बन्धी किसी भी सीमा से भगवान् का ज्ञान सीमित नहीं है। तर्क-वितर्क से उसमें विषमता नहीं आ सकती। कहीं भी वह ज्ञान कुण्ठित नहीं होता। इसलिए भगवान् का ज्ञान अप्रतिहत है क्योंकि वह क्षायिक है'।

इसी प्रकार भगवान् में अप्रतिहत दर्शन है। वह दर्शन भी किसी भी पदार्थ से रूकता नहीं है। भगवान् दर्शन से संसार के समस्त पदार्थों को अबाधित रूप से देखते हैं।

वस्तु में सामान्य और विशेष-दोनों धर्म हैं। कोई पदार्थ न केवल सामान्य रूप हो सकता है, न केवल विशेष रूप ही। जहाँ सामान्य है वहाँ विशेष भी है, जहाँ विशेष है वहाँ सामान्य भी अवश्य है। यथा-जीवत्व एक सामान्य धर्म है, जहाँ जीवत्व होगा वहाँ कोई न कोई विशेष धर्म अवश्य होगा-अर्थात् वह मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारक आदि में से कोई होगा ही। इसी प्रकार जो पशु, पक्षी या मनुष्य है वह जीव रूप अवश्य होगा। सामान्य और विशेष सहचर हैं-एक को छोड़ कर दूसरा नहीं रह सकता। अथवा यों कहा जा सकता है कि सामान्य और विशेष धर्मों का समूह ही वस्तु कहलाता है। वस्तु के सामान्य अंश को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है और विशेष अंश को जानने वाला ज्ञान, ज्ञान कहलाता है। भगवान् का ज्ञान और दर्शन दोनों ही

अप्रतिहत हैं और समस्त आवरणों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण वर अर्थात् प्रधान हैं।

विगतछद्म

कई लोगों की यह मान्यता है कि छद्मस्थों में भी इस प्रकार का ज्ञान-दर्शन पाया जा सकता है। मगर यह सम्भव नहीं है। छद्मस्थ का उपदेश मिथ्या भी होता है, अतएव वह अप्रतिहत ज्ञान दर्शन का धारक नहीं हो सकता। छद्मस्थ में अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन नहीं हो सकता, यह भाव प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है कि भगवान् 'विगतछद्म' हैं।

छद्म के दो अर्थ हैं-आवरण-ढक्कन भी छद्म कहलाता है और धूर्त्तता को भी छद्म कहते हैं। भगवान् से छद्म हट गया है अर्थात् न उनमें कपट है, न आवरण है। जहाँ कपट होगा, वहाँ ज्ञान का आवरण भी अवश्य होगा। कपट को पूर्ण रूप से जीत लेना ज्ञान का मार्ग है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज जो धर्मोपदेशक हैं, वह छद्मस्थ हैं। उनमें से कुछ कपट हटा होगा, पर कुछ कपट तो अब भी विद्यमान है। ऐसी अवस्था में उन पर विश्वास कैसे किया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई उपदेशक अपनी ही ओर से उपदेश दे तब तो उपदेशक से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आप को पूर्ण ज्ञान हो गया है? क्या आप में कपट नहीं रहा? अगर उपदेशक यह उत्तर दे कि हम पूर्णज्ञानी नहीं हैं तो उससे कहना चाहिए कि आपका उपदेश हमारे काम का नहीं है। हाँ, अगर उपदेशक यह कहता है कि मैं अपनी बुद्धि से उपदेश नहीं देता-सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र की ही बात कहता हूं।

उसपर मैं स्वयं चलता हूँ और दूसरों को चलने के लिये कहता हूँ; तब तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। फिर वह उपदेश छद्मस्थ का नहीं, सर्वज्ञ का ही है।

आज मज़हब में ऐसी बातें चल पड़ी हैं कि जिनसे लोग चक्कर में पड़ जाते हैं। परन्तु श्रीसुधर्मा स्वामी कहते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह रहा हूँ, जिन्होंने छद्म पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली थी, उन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् के उपदेश का ही मैं अनुवाद करता हूँ। इस प्रकार शास्त्र को प्रमाण मान कर चलने से धोखा नहीं हो सकता।

अमुक शास्त्र सर्वज्ञ की वाणी है या नहीं? इस शंका का समाधान करने के लिए शास्त्र का लक्षण समझ लेना चाहिए। कहा है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंध्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
शास्त्रोपकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

अर्थात् जो शास्त्र आप्त का कहा हुआ होता है उसका तर्क या युक्ति से खण्डन नहीं किया जा सकता। उसमें प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से विरोध नहीं होता। वह प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी होता है और अन्याय, असमानता, मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का विरोधी होता है।

यह लक्षण जिसमें घटित होता हो अथवा जिस शास्त्र के पढ़ने सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि सद्गुणों के प्रति रुचि जागृत हो, उस शास्त्र के सम्बन्ध में समझना चाहिए

कि यह सर्वज्ञ की वाणी है। उसे किसने लिपिवद्ध किया है, यह प्रश्न प्रधान नहीं है, प्रधान बात है उसमें पूर्वोक्त दैवी भावनाओं का होना।

परीक्षा दो प्रकार की होती है—आन्तरिक और वाह्य परीक्षा। यह बात समझाने के लिए एक दृष्टान्त उपयोगी होगा।

कल्पना कीजिए, एक आदमी आपके सामने एक आम लाया। उस आम की परीक्षा दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम यह कि यह आम कहाँ का है—किस बाग का है? किस वृक्ष का है? आदि। यह वाह्य परीक्षा है। वाह्य परीक्षा में बड़ी उलझन होती है और फिर भी ठीक-ठीक निश्चय होना कठिन होता है दूसरी अन्तरंग परीक्षा के लिए केवल इतना ही करना पर्याप्त है कि आम का छिलका उतार कर उसे चख लिया। चखने से तत्काल आम की मिठास या खटास का पता चल जाता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है—आम खाने से काम है, पेड़ गिनने से क्या काम! वह आम चाहे बड़े और अच्छे बगीचे का ही क्यों न हो, अगर खट्टा है तो काम में नहीं लिया जायगा। तात्पर्य यह है कि अन्तरंग परीक्षा में वाह्य परीक्षा जैसी उलझन नहीं होती और अन्तरंग परीक्षा अचूक होती है।

शास्त्र को आम के स्थान पर समझ लीजिए। शास्त्र चाहे किसी ने बनाया हो, चाहे किसी ने संग्रह किया हो, लेकिन इसके विषय में थोथी तर्कणा से काम न चलेगा।

इस प्रकार के तर्क वितर्क चाहे जीवन भर किया करो, तब भी किसी निश्चय पर न पहुँच सकोगे। तर्क-वितर्क वाह्य

परीक्षा है, जिससे उलझन बढ़ती ही है, घटती नहीं है और किसी प्रकार के निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाता है।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर शास्त्रकारों ने कह दिया है कि धर्म, तर्क द्वारा बाह्य परीक्षा की चीज़ नहीं है। परीक्षा करनी है तो इसकी आन्तरिक परीक्षा करो। तर्क का आधिक्य बुद्धि में चंचलता उत्पन्न करता है और अन्त में मनुष्य सांशयिक बन जाता है।

केले के वृक्ष के छिलके उतारोगे तो क्या पाओगे? सिवाय छिलकों के और कुछ भी न मिलेगा। अगर उसे ऐसा ही रहने दोगे और उसमें पानी देते रहोगे तो मधुर फल प्राप्त कर सकोगे। जब केले का वृक्ष छिलके उतारने पर फल नहीं देता और छिलके न उतारने पर फल देता है तो छिलके क्यों उतारे जाएँ? यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिए। अनेक लोगों को तर्क-वितर्क करके धर्म के छिलके उतारने का व्यसन-सा हो जाता है। मगर यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। ज्ञानी पुरुष धर्म के छिलके उतारने के लिए उद्यत नहीं होते, वे धर्म के मधुर फलों का ही आस्वादन करने के इच्छुक होते हैं।

शास्त्र रूपी आम में मिठास की भाँति तप, क्षमा और अहिंसा की त्रिपुटी का होना आवश्यक है। जिसमें इन तीन बातों की शिक्षा हो वही शास्त्र है, अन्यथा नहीं। यह तीनों बातें परस्पर सम्बद्ध हैं।

भगवान् महावीर ने दान, शील, तप और भावना रूप जो चतुर्विध धर्म प्ररूपित किया है वह इतना प्रभावशाली

एवं असंदिग्ध है कि उससे भगवान् का धर्मचक्रवर्त्ती होना सिद्ध है और यह भी सिद्ध है कि वे छद्म से सर्वथा अतीत हो चुके थे।

जिन ज्ञापक—

भगवान् छद्म से अतीत होने के साथ ही जिन हैं। राग द्वेष आदि आत्मिक शत्रुओं को पराजित करने वाला जिन कहलाता है। राग आदि दोषों को जीतने के लिए ज्ञान की अपेक्षा रहती है। राग द्वेष आदि शत्रुओं को पहचानना और पहचान कर उन्हें पराजित करने के उपायों को समझना, ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञानी पुरुष ही रागादि को पराजित कर सकता है।

यों तो अचेत अवस्था में पड़े हुए आत्मा में भी राग-द्वेष प्रतीत नहीं होते, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अचेत आत्मा राग-द्वेष से रहित हो गया है। जो आत्मा ज्ञान के आलोक में राग-द्वेष को देखता है—राग-द्वेष के विपाक को जानता है और फिर उसे हेय समझकर राग-द्वेप का नाश करता है, वही राग-द्वेप का विजेता है। उदाहरणार्थ-दुमुही (साँप की एक जाति, जिसके दोनों ओर मुख होते हैं) को छेड़ने पर वह क्रुद्ध नहीं होती और सर्प छेड़ने से क्रोधित हो जाता है। दुमुही का क्रुद्ध न होना, क्रोध को जीत लेने का प्रमाण नहीं है। क्रोध न करना उसके लिए स्वभाविक है। लेकिन अगर कोई सर्प ज्ञानी होकर क्रोध न करे तो कहा जायगा कि उसने क्रोध को जीत लिया है, जैसे चण्ड-कौशिक ने भगवान् के दर्शन के पश्चात् क्रोध पर विजय प्राप्त करली थी। जिसमें जिस वृत्ती का उदय ही नहीं है, वह उस

वृत्ति का विजेता नहीं कहा जा सकता। अन्यथा समस्त बालक काम-विजेता कहलाएँगे। विजय संघर्ष का परिणाम है। विरोधी से संघर्ष करने के पश्चात् विजय पाने वाला विजेता कहलाता है। जिसने संघर्ष ही नहीं किया उसे विजेता का महान् पद प्राप्त नहीं होता। संघर्ष और विजय, दोनों के लिए ज्ञान अनिवार्य है। अज्ञान पुरुष, अगर अपने विरोधी को नहीं पहचानता तो वह संघर्ष में कैसे कूद सकता है? और अगर कूद भी पड़ता है तो विजय के साधनों से अनभिज्ञ होने के कारण विजेता कैसे हो सकता है? इस प्रकार राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के लिए, प्रथम ही उनके स्वरूप का और उनके विपाक का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। समझ-बूझकर ज्ञानपूर्वक उन्हें जीतना ही सच्चा जीतना है।

भगवान् 'जाणए' अर्थात् ज्ञापक हैं। यद्यपि राग आदि को जीतने से पहले भगवान् में केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ था, तथापि उन्हें चार निर्मल ज्ञान प्राप्त थे। उन ज्ञानों से भगवान् ने राग आदि विकारों के स्वरूप को जाना और उन्हें जीतने के उपायों को भी जाना। तत्पश्चात् विकारों पर विजय प्राप्त की। तात्पर्य यह है कि भगवान् ने रागादि को जानकर ही उन्हें जीता था। इस कारण भगवान् 'जिणे' हैं और 'जाणए' भी हैं अर्थात् राग आदि को जीतने वाले भी हैं और उन्हें सम्यक् प्रकार से जानने वाले भी हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है कि, अगर तुम क्रोध को जानते हो तो इस बात को भी जानो कि क्रोध के बदले क्रोध करने से क्रोध नहीं मिटता। तुम्हें यह भी जानना चाहिए कि

क्षमाभाव धारण करने से ही क्रोध का अन्त आता है। 'उवसमेण हणे कोहं'। अर्थात् क्षमा से क्रोध को जीतना चाहिये।

आप दुकान पर बैठे हों और कोई आदमी आप से कंकर के बदले हीरा लेना चाहे तो आप उसे हीरा दे देंगे? नहीं!

अगर कंकर के बदले हीरा मिलता हो तो ले लेंगे या नहीं? अवश्य। क्रोध के बदले क्रोध करना हीरे के बदले में कंकर खरीदना है और क्रोध के बदले क्षमा धारण करना कंकर के बदले हीरा लेना है। आप जो पसंद करें वही ले सकते हैं।

अकसर लोग गाली का बदला गाली से चुकाते हैं, लेकिन भगवान् महावीर का सिद्धान्त यह नहीं है। गाली के बदले गाली देने का नाम ज्ञान नहीं है। यदि कोई गाली देता है तो उससे भी कुछ न कुछ शिक्षा लेना ज्ञान है। मान लीजिए, किसी ने कहा-'तुम नीच हो'। जो ज्ञानी होगा वह यह गाली सुनकर विचार करेगा कि नीचता बुरी वस्तु है। यदि मुझ में नीचता है तो गाली देने वाला सत्य ही कह रहा है और मुझे शिक्षा दे रहा है। इस शिक्षा के लिए मुझे क्षुब्ध क्यों होना चाहिए? मैं अपनी नीचता पर ही क्षुब्ध क्यों न होऊँ? फिर शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना क्या नीचता नहीं है? मुझे अपनी नीचता का ही त्याग करना चाहिए।

अगर कोई आदमी कहता है-आपके सिर पर काली टोपी है। तो काली टोपी वाला पुरुष, अपने सिर से वह

टोपी न हटाकर उस पर नाराज़ हो, यह कौन-सा न्याय है? पर संसार में सर्वत्र यही झगड़ा चल रहा है। लोग अपने सिर की काली टोपी उतारते नहीं-अपने दुर्गुण देखते नहीं और दूसरे पर नाराज़ होते हैं।

भगवान् महावीर उत्कृष्ट ज्ञानी थे। वे भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल के समस्त भावों के ज्ञाता थे। अपने अपमान को भी जानते थे। मगर उन्होंने क्रोध नहीं किया। घोर से घोर उपसर्ग देने वाले पर भी भगवान् ने अपूर्व क्षमा की वर्षा की—स्वयं शान्त रहे और उपसर्ग दाता को भी शान्ति पहुँचाई। इसी से भगवान् जिन और 'जावए' कहलाए।

चौंसठ इन्द्र, जिन भगवान् महावीर के चरणों में नमस्कार करके अपने को कृतार्थ मानते हैं, उन भगवान् पर सामान्य अनार्य लोग धूल फैंकें, उन्हें चोर कहकर बाँधें, भेदिया कहकर उनकी अवहेलना करें, सूने मकान में ध्यान करते समय दुष्ट लोग उन्हें वहाँ से बाहर भगा दें, क्या यह अपमान की बात नहीं समझी जाती? मगर इतना अपमान होने पर भी भगवान् ने इसे अपमान नहीं समझा। इस अपमान को भी भगवान् ने अपना सन्मान ही समझा और यह माना कि इसकी बदौलत मुझे शीघ्र ही महाकल्याण की प्राप्ति होगी।

भगवान् का यह आदर्श और पवित्र चरित्र ही हमारा आदर्श होना चाहिए। अगर हम उस आदर्श पर आज ही न पहुँच सकें तो कोई हानि नहीं, मगर उसकी ओर आज ही चलना तो आरंभ कर दें। थोड़ा-सा भी क्रोध जीतने से

अन्तरात्मा में शान्ति का संचार होगा।

जिसने वास्तविक कल्याण का मार्ग जान लिया है और उस मार्ग पर चलकर अपना कल्याण साध लिया है, उसे ही दूसरे के कल्याण करने का अधिकार प्राप्त होता है। जिसने अपना ही कल्याण नहीं किया है, उसे दूसरे का कल्याण करने का अधिकार नहीं है। वह ऐसा कर भी नहीं सकता। भगवान् ने स्वयं राग-द्वेष को जीत लिया था, इसीसे उन्होंने दूसरों को राग-द्वेष जीतने का उपदेश दिया।

बुद्ध-बोधक—

भगवान् ज्ञानवान् होने से और राग-द्वेष को जीतने से 'बुद्ध' हो गये थे। सम्पूर्ण तत्त्व को जान कर राग-द्वेष को पूर्ण रूपसे जीतने वाला 'बुद्ध' कहलाता है। भगवान् नाम केही 'बुद्ध' नहीं, अपने सद्‌गुणों के कारण बुद्ध थे। 'बुद्ध' होने के साथ ही भगवान् 'बोधक' भी थे। जीव, अजीव आदि तत्त्वों का जैसा स्वरूप भगवान् आप जानते थे, वैसे ही स्वरूप का उन्होंने दूसरों को भी उपदेश दिया है।

भगवान् का उपदेश, उनके केवलज्ञान का फल है। उस उपदेश में कुछ बातें ऐसी हो सकती हैं जो अत्यन्त अल्प ज्ञान के कारण हमें दिखाई न दें। फिर भी उनपर शंक करने का कोई कारण नहीं है। सर्वज्ञ की वाणी में असत्य की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। भगवान् ने स्वयं कह है कि-अगर तुम्हें परलोक सम्बन्धी बातें नहीं दिखती तो भी मेरे कथन पर विश्वास करो। कालान्तर में साध के द्वारा तुम्हारा और मेरा स्वरूप समान हो जायगा

भगवान् ने गौतम से भी यही बात कही है कि यह बात मैं ही देखता और जानता हूँ। मगर मेरी बात पर विश्वास कर। तेरी और मेरी दृष्टि एक हो जायगी।

मुक्त-मोचक—

भगवान् बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रंथि से मुक्त थे, अतएव उन्हें 'मुक्त' कहा गया है। यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथि से मुक्त हुए बिना कोई बुद्ध और बोधक नहीं हो सकता? जो स्वयं बुद्ध है और दूसरों का बोधक है, वह ग्रंथि से मुक्त तो होगा ही। जैसे लखपति हुए बिना कोई करोड़पति नहीं हो सकता। जो करोड़पति होगा उसका लखपति होना स्वयं सिद्ध है। फिर करोड़पति को लखपति बताने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जो बुद्ध और बोधक होगा वह ग्रंथि से मुक्त तो होगा ही। फिर उसे 'मुक्त' कहने की क्या आवश्यकता है? इस शंका का समाधान यह है कि बाल जीवों के भ्रम का निवारण करने के लिए भगवान् को यह विशेषण लगाया गया है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि जो भगवान् हैं उनके पास अगर धन भी हो, स्त्री आदि भी हो तो भी क्या हानि है? मगर यह उनका भ्रम है। जो बुद्ध होगा, बोधक होगा, उसे मुक्त पहले ही होना चाहिए। मुक्त होने से पहले कोई बुद्ध-बोधक नहीं हो सकता। इस भाव को समझाने के लिए भगवान् को मुक्त विशेषण लगाया गया है।

वही उपदेशक प्रभावशाली होता है जो स्वयं अपने उपदेश का आदर्श हो। जो पुरुष स्वयं ही अपने उपदेश के अनुसार

नहीं चलता, उसका उपदेश प्रभाव जनक नहीं हो सकता। नीतिकार ने कहा है—

> परोपदेशे पाण्डित्यं, सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
> धर्मं स्वीयमनुष्ठानं, कस्यचित्तु महात्मनः॥

अर्थात्—दूसरों को उपदेश देना सभी के लिए सरल है, मगर स्वयं धर्म का आचरण करने वाले महात्मा विरले ही होते है।

तात्पर्य यह है कि स्वयं धर्म का पालन करने वाला ही धर्मोपदेश का अधिकारी हो सकता है। जो गुरू स्वयं सोने के कड़े पहनता है, वही अपने शिष्य को अगर चांदी के कड़े पहनने का निषेध करे तो उसका उपदेश वृथा जायगा। यही नहीं, बलिक इस प्रकार के उपदेश से धृष्टता का पोषण होगा। भगवान् ने अपरिग्रह का उपदेश दिया है। उस उपदेश को प्रभावशाली बनाने के लिए यह स्वभाविक ही था कि वे स्वयं परिग्रह से मुक्त होते। परिपूर्ण वीतराग दशा में पहुँच जाने पर न किसी वस्तु को ग्रहण करना आवश्यक होता है, न त्यागना ही। फिर भी भगवान् आदर्श उपस्थित करने के लिए मुक्त थे। भगवान् स्वयं मुक्त थे और अन्य प्राणियों को मुक्त बनाने वाले भी थे।

सर्वज्ञ—सर्वदर्शी—

कुछ दर्शनकारों के मत के अनुसार मुक्तात्मा जड़ हो जाता है। उसे ज्ञान नहीं रहता। मुक्तात्मा को ज्ञान होगा तो वह सब बातें जानेगा और सब बातें जानने पर उसे राग-द्वेष

भी होगा। राग-द्वेष होने से कर्म-बन्ध अनिवार्य हो जायगा कर्म-बन्ध होने से वह मुक्तता नहीं रहेगा। संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायगी।

बुद्ध से किसी ने पूछा-'मुक्तात्मा का स्वरूप क्या है ?' बुद्ध ने उत्तर दिया-दीपक के बुझ जाने पर उसका जो स्वरूप होता है, वही मुक्ति का स्वरूप है। अर्थात् मुक्त होने पर आत्मा शून्य रूप हो जाता है।

विचार करने पर उक्त दोनों मत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होते। ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का नाश हो जाने पर स्वभाववान् ठहर नहीं सकता। अतएव ज्ञान के साथ आत्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। अगर मुक्त अवस्था में आत्मा का नाश मान लिया जाय तो फिर मोक्ष के लिये कौन कष्ट उठायगा? कौन अपना अस्तित्व गँवाने के लिए प्राप्त सुखों को त्याग कर तपस्या के कष्ट उठाना पसंद करेगा? इसके अतिरिक्त ज्ञान से राग-द्वेष का होना कहना भी ठीक नहीं है। ज्यों २ ज्ञान की वृद्धि होती है, त्यों २ राग-द्वेष की वृद्धि नहीं, वरन् हानि देखी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का परिपूर्ण विकास होने पर राग द्वेष भी नहीं रहते। मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञानी हैं अतएव उन में राग-द्वेष की उत्पत्ति होना संभव नहीं है।

एक विकार ही दूसरे विकार का जनक होता है। आत्मा जब पूर्ण निर्विकार दशा प्राप्त कर लेता है, तब विकार का कारण न रहने से उसमें विकार उत्पन्न होना असंभव है। अतएव राग द्वेष के भय से मुक्तात्मा को जड़ मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा के विनाश को मोक्ष या निर्वाण मानना भी भ्रमपूर्ण है। अगर आत्मा की सत्ता है, तो आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता। जैसे सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् का सर्वथा विनाश भी नहीं हो सकता। जो है, वह सदैव रहता है और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता। जिसे हम लोग वस्तु की उत्पत्ति या विनाश समझते हैं, वह वास्तव में वस्तु की अवस्थाओं का परिवर्त्तन मात्र है। वस्तु एक अवस्था त्यागती है और दूसरी अवस्था धारण करती है। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की मूल सत्ता विद्यमान रहती है। इससे यह साबित है कि किसी भी वस्तु का मूल स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता। आधुनिक विज्ञान और हमारा अनुभव इस सत्य की साक्षी देता है। ऐसी अवस्था में आत्मा का सर्वथा नष्ट हो जाना कैसे माना जा सकता है?

मुक्तावस्था में आत्मा की अखण्ड और शुद्ध सत्ता रहती है और मुक्तात्मा सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होते हैं। वह सभी कुछ जानते हैं, सभी कुछ देखते हैं। जानने और देखने में जो अन्तर है, उसे समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक पुस्तक आपके सामने है। पुस्तक का रंग तो सभी देखते हैं, मगर उस पुस्तक में क्या लिखा है, इस बात को सब नहीं जानते। इससे प्रतीत हुआ कि देखना तो सामान्य है और जानना विशेष है। भगवान् केवलज्ञान से जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं। इस कथन से यह भी सिद्ध है कि मुक्तात्मा, मुक्ति से जड़ नहीं हो जाते; वरन् उनकी चेतना सब प्रकार की उपाधियों से रहित, निर्विकार और शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रहती है।

मुक्तिकामी—

टीकाकार कहते हैं कि किसी-किसी प्रति में 'सव्वरणू' और 'सव्वदरिसी' यह दो विशेषण नहीं पाये जाते, इसका कोई कारण तो होगा ही, पर मुक्तात्मा के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने में जैनशास्त्र निश्चित प्रमाणभूत है।

मोक्ष की विशेष अवस्था प्रकट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—मोक्ष शिव है। जो बाधा, पीड़ा दुःख से रहित हो वह शिव कहलाता है। मोक्ष में किसी प्रकार की बाधा या पीड़ा नहीं है।

मोक्ष अचल भी है। चलन दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और प्रायोगिक। दूसरे की प्रेरणा विना अथवा अपने ही पुरुषार्थ के विना स्वभाव से ही जो चलन हो वह स्वभाविक चलन कहलाता है। जैसे जल में स्वभाव से ही चंचलता है। इसी प्रकार बैठा हुआ मनुष्य यद्यपि स्थिर दिखता है मगर योग की अपेक्षा से उसमें भी चंचलता है। यह स्वाभाविक चलन है। वायु आदि बाह्य निमित्त से जो चंचलता उत्पन्न होती है वह प्रायोगिक चलन कहलाता है। मुक्तात्माओं में न स्वभाव से ही चलन है, न प्रयोग से ही। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म कि वायु भी उसे नहीं चला सकती। मुक्तात्मा में गति का भी अभाव है और इस कारण भी वह अचल है।

मोक्ष अरूज है। मुक्तात्माओं को किसी प्रकार का रोग नहीं होता। शरीर-रहित होने के कारण वात, पित्त और कफ विषमता जन्य शारीरिक रोग उन्हें नहीं हो सकते और कर्म रहित होने के के कारण भाव-रोग-रागादि-भी नहीं हो सकते।

मोक्ष अनन्त है। मुक्तात्माओं का ज्ञान अनन्त है, दर्शन अनन्त है और वह ज्ञान-दर्शन अनन्त पदार्थों को जानता-देखता है। अतएव मोक्ष अनन्त है।

मोक्ष अक्षय है। मोक्ष प्राप्त करने की आदि तो है, मगर अन्त नहीं है, अतएव मोक्ष को अक्षय कहा है।

मोक्ष अव्याबाध है—पीड़ा रहित है। मुक्तात्माओं को किसी प्रकार का कष्ट या शोक नहीं है, और न वह किसी दूसरे को पीड़ा पहुँचाते हैं।

मोक्ष पुनरागमन रहित है। जो एक वार मुक्त हो जाता है वह फिर लौट कर कभी संसार में नहीं आता।

सिद्धि एक गति है। जिसके सब काम सिद्ध हो जावें वह सिद्ध कहलाता है। आत्मा कृत्य कृत्य हो जाने पर जहाँ जाता है वह सिद्धिगति या सिद्धगति है। इस गति में आत्मा सदा काल विद्यमान रहता है। सिद्धिगति नामक स्थान इन सब पूर्वोक्त विशेषणों से सहित है।

शंका—जीव को 'शिव' कहना तो उचित कहा जा सकता है, पर स्थान को शिव क्यों कहा गया है?

समाधान—सिद्धात्मा आधेय और सिद्धिगति स्थान आधार है। दोनों में आधार आधेय का संबंध है। इस संबंध के कारण स्थान शिव कहा गया है। जहां शिव जीव ठहरता है, वह स्थान भी शिव रूप ही कहलाता है। इस प्रकार आधार और आधेय में अभेद की कल्पना करके यहां स्थान को शिव कहा है।

उदाहरण के लिए लॉर्ड की कोठी और शाहजहाँ का किला लीजिये। लॉर्ड की कोठी लॉर्ड से नहीं बनी है, शाहजहाँ का किला शाहजहाँ से नहीं बना है-अर्थात् उनकी हड्डियों से उनका निर्माण नहीं हुआ है-किन्तु ईंट, पत्थर, चूने आदि से बना है, तथापि जिस कोठी में लॉर्ड रहता है वह लॉर्ड की कोठी और जिस किले में शाहजहाँ रहता था वह शाहजहाँ का किला कहलाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी आधार-आधेय के अभेद की विवक्षा से ऐसा लोक व्यवहार होता है। मोक्ष क्षेत्र में शिव जीव जाते और रहते हैं, इसलिए वह क्षेत्र भी शिव कहलाता है।

अथवा जहां स्थिति की जाय वह स्थान कहलाता है। निश्चय नय से विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तु अपने ही स्वरूप में स्थित रहती है और विशेष रूप से सिद्ध आत्मा तो अपने ही स्वरूप में स्थित हैं। अतएव स्थान का तात्पर्य यहां जगह क्षेत्र न समझकर आत्मा का स्वरूप ही समझना चाहिए। जब स्थान का अर्थ आत्मा का स्वभाव है तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि क्षेत्र को शिव क्यों कहा गया है?

भगवान् महावीर उस समय सिद्ध-गति को प्राप्त नहीं हुए थे। वे सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक थे। ऐसे भगवान् महावीर स्वामी राजगृही नगरी में पधारे।

भगवान् को जाना तो है मोक्ष में, लेकिन पधारे हैं वे राजगृही में। इसका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जगत् का उद्धार करना भगवान् का विरुद है। इस विरुद को निभाने के लिए ही भगवान् राजगृही में

पधारे हैं। भगवान् स्वयं बुद्ध हो चुके हैं परन्तु संसार को बोध देने के लिए वह राजगृही में पधारे हैं।

यहां एक बात और भी लक्ष्य देने योग्य है। वह यह कि भगवान् को किसी भी प्रकार की कामना नहीं थी। फिर भी उनके लिए कहा गया है कि भगवन् मोक्ष के कामी होकर भी राजगृही में पधारे। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि एक कामना सभी को करनी चाहिए, जिससे अन्य समस्त कामनाओं का अन्त हो सके। वह कामना है मोक्ष की। मोक्ष की कामना समस्त कामनाओं के क्षय का कारण है और अन्त में वह स्वयं भी क्षीण हो जाती है। मोक्ष के अतिरिक्त और किसी वस्तु की कामना न करके ऐसे कार्य करना चाहिए जिसमें, दूसरें को चाहे आलस्य आवे परन्तु मोक्ष के कामी को आलस्य न आवे। भगवान् प्रतिक्षण-चौवीसों घंटे जगत् के कल्याण में ही लगाते हैं। हमें भी अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए।

यह कहा जा सकता है कि भगवान् वीतराग थे, उन्हें अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रहा था, अतएव वे जगत्-कल्याण में ही सम्पूर्ण समय व्यतीत करते थे, परन्तु हमारे मस्तक पर गृहस्थी का भार है, संसार सम्बन्धी सैंकड़ों प्रपञ्च हमारे साथ लगे हैं। अगर हम अपना समस्त समय परोपकार में ही यापन करें तो गार्हस्थिक कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर यह है कि भगवान् उस समय शरीरधारी थे। शरीरधारी होने के कारण भगवान् को शरीर सम्बन्धी

समुद्र की भाँति यह संसार भी खारा है। संसार के खारेपन में से जो मिठास उत्पन्न करता है वही सच्चा भक्त है। लेकिन आज के लोग खारे समुद्र से मीठास न निकाल कर खारापन ही निकालते हैं, जिससे आप भी मरते हैं और दूसरों को भी मारते हैं। मगर सच्चे भक्त की स्थिति ऐसी नहीं होती। भक्त संसार में रहता हुआ भी उसके खारेपन में नहीं रहता। वह समुद्र में मछली की भांति मीठास में ही रहता है।

कोई स्थलचर प्राणी दो-चार घंटे भी समुद्र में रहेगा तो मरने लगेगा। मगर मछली समुद्र की तह तक चली जाती है फिर भी नहीं मरती। वह अपने भीतर हवा का खजाना भर लेती है, जिससे आवश्यकता के समय उसे हवा मिलती रहती है। अतएव उसका श्वास नहीं घुटता और वह जीवित रहती है।

यह संसार खारा और अथाह है। इसमें दम घुट कर मरना सभव है। लेकिन भक्त लोग अपने भीतर भगवद्-भक्ति रूपी ताजी हवा भर लेते हैं, जिससे वे इस संसार में फँस कर मरते नहीं है। यद्यपि प्रकट रूप में भक्त और साधारण मनुष्य में कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता, लेकिन वास्तव में उनमें महान् अन्तर होता है। भक्त का आत्मा संसार के खारेपन से सदा बचा रहता है।

मछली जब जल में गोता लगाती है, तब लोग समझते हैं कि मछली डूब मरी। मगर मछली कहती है-डूबने वाला कोई और होगा। मैं डूबी नहीं हूं। यह तो मेरी क्रीड़ा है। समुद्र मेरा क्रीड़ा स्थल है। इसी प्रकार भक्त जन संसार में भले ही दीखते हों, साधारण पुरुषों की भांति व्यवहार [illegible] करते

हाँ, मगर उनकी भावना में ऐसी विशिष्टता होती है कि संसार में रहते हुए भी वे संसार के प्रभाव से बचे रहते हैं। वे संसार समुद्र के खारेपन से विलग रह कर मिठास ही ग्रहण करते हैं।

अगर आप सागर में मछली की भांति रहेंगे तो आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे। अगर आप आसक्ति के खारेपन से न बच सकेंगे तो दुःख के पहाड़ आपके सिर पर आ पड़ेंगे।

पामर प्राणी चेते तो चेताऊँ तोनेरे।
खोलामां थी धन खोयो, धूल थी कपाल धोयो,
जाणपणूं तारो जोयेरे ॥ पामर० ॥
हजी हाथमां छे बाजी, करी ले प्रभु ने राजी।
तारी मूड़ी थशे ताजी रे ॥ पामर० ॥
हाथमां थी बाजी जासी, पाछे पछतावो थासी।
पछे काछू न करी सकासी रे ॥पामर०॥

दलपत कवि ने कहा है कि यदि तू चेते तो तुझे चेताऊँ। मित्रों! आप भी अपने आत्मा को चेताओ कि—'रे अविवेकी! तू क्या कर रहा है? तू कौन है? कैसा है? और किस अवस्था में आ पड़ा है? जाग! अपने आपको पहचान! अपने असली स्वरूप को निहार! भ्रम को दूर कर! अज्ञान को त्याग! उठ खड़ा हो। अभी अवसर है। इसे हाथ से न जाने दे। ऐसा स्वर्ण अवसर बार-बार हाथ नहीं आता। बुद्धिमान् पुरुष की तरह अवसर से लाभ उठा लें।' अगर आप अपने आपको इस प्रकार चेताओगे तो उठ खड़े होओगे। दूसरों का चेताना उतना उपयोगी नहीं हो सकता। अपने आपको

आप हीं जागृत करना चाहिए। सोचना चाहिए कि—मैं करने योग्य कार्य को छोड़ बैठा हूँ और न करने योग्य कार्यों में दिन-रात रचा-पचा रहता हूँ। अगर ऐसी ही स्थिति बनी रही तो बाजी हाथ से निकल जायगी। एक बार हाथ से बाजी निकल जाने पर फिर ठिकाना लगना कठिन है। फिर तो यहां भी दुःख ही दुःख है और वहां भी दुःख ही दुःख है। अरे प्राणी! तू इतना पाप करता है सो किस प्रयोजन के लिए? कितना-सा जीवन है तेरा, जिसके लिए इतना पाप करता है।

पानी में पतासा तन का तमाशा है!

यह जीवन कुछ ही समय का है। इस अल्पकालीन एक जीवन के लिए इतना काम करते हो—रात-दिन पसीना बहाते रहते हो। मगर भविष्य का जीवन तो अनन्त है। उस की भी कभी चिन्ता करते हो? क्या तुम यह समझते हो कि सदा-सर्वदा यही जीवन तुम्हारा स्थिर रहेगा? अगर तुम्हारे आँखें हैं तो दुनिया को देखो। क्या कोई भी सदा के लिए स्थिर रहा है या तुम्हीं अकेले इस दुराशा में फँसे हो! एक समय आयगा—निश्चित समझो कि वह समय बहुत दूर नहीं है, जब तुम्हारा वैभव तुम पर हँसेगा और तुम रोते हुए उसे छोड़ कर अज्ञान दिशा की ओर प्रयाण कर जाओगे।

वर्त्तमान जीवन स्वल्पकालीन है और भविष्य जीवन अनन्त है। इसलिए हे भद्र पुरुष! वर्त्तमान के लिए ही यत्न न कर, किन्तु भविष्य को मंगलमय बनाने की भी चेष्टा कर।

साधारणतया आयु के सौ वर्ष माने जाते हैं, यद्यपि सब इतने समय तक जीवित नहीं रहते। इसमें से दस वर्ष बचपन के गये और बीस वर्ष तक पढ़ाई की। इस तरह तीस वर्ष निकल गये। शेष सत्तर वर्ष के आराम के लिए यदि बीस वर्ष तक पढ़ने की मिहनत उठाते हो तो अनन्त काल के सुख के लिए कितना परिश्रम करना चाहिए? जिसकी बदौलत सदा-सर्वदा के लिए सुख मिल सकता है उस धर्म के लिए जरा भी उत्साह न होना कितने बड़े दुर्भाग्य की बात है? मगर आजकल सर्वत्र यही दृष्टिगोचर हो रहा है कि माँ, दासी बन रही है और दासी, रानी बन रही है। अस्तु।

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान् मोक्ष के कामी हैं, अभी मोक्ष में पहुँचे नहीं हैं। इस प्रकार मोक्ष कामी भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील बाग में पधारे।

भगवान् मोक्ष के कामी हैं, अब तक मुक्ति में नहीं पहुँचे हैं, यह बात इसलिए कही गई है कि मोक्ष को प्राप्त हो जाने वाले बोलते नहीं हैं। उनके बोलने का कोई कारण ही शेष नहीं रहता है और भगवान् ने उपदेश दिया है। मोक्ष में पहुँचे हुए उपदेश नहीं देते, किन्तु देहधारी ही उपदेश देते हैं।

कई लोगों की मान्यता यह है कि हमारे वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात् किसी पुरुष के उपदेश से उनकी रचना नहीं हुई है वरन् वह आप ही प्रकट हुए हैं—अर्थात् अनादि काल से चले आये हैं। मगर जैन धर्म की मान्यता ऐसी नहीं है। शब्द, ध्वनि रूप हैं और ध्वनि तालु, कंठ, ओष्ठ आदि

स्थानों से ही उत्पन्न होती है। तालु, कंठ आदि स्थान पुरुष के ही होते हैं, इसलिए शब्द पौरुषेय ही हो सकता है- अपौरुषेय नहीं। बिना बोले वचन नहीं होते, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकारों ने यह उल्लेख किया है कि भगवान् उपदेश देते समय मोक्ष में पहुँचे नहीं थे, किन्तु मोक्ष के कामी थे। कामी से मतलब है प्राप्त करने वाले।

प्रश्न--भगवान् पूर्ण रूप से वीतराग हैं। उनका छद्म चला गया है। मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो गया है, फिर उनमें कामना कैसे हो सकती है? कामना मोह का विकार है तो निर्मोह में वह कैसे संभव है?

उत्तर—भगवान् में वस्तुतः कामना नहीं है, फिर भी उपचार से उन्हें मुक्तिकामी कहा गया है। कोई कोई वस्तु असली स्वरूप में नहीं होती, लेकिन समझाने के लिए उसका आरोपण किया जाता है। जैसे-जब किसी वस्तु में मनुष्य की बुद्धि काम नहीं देती तब समझाने के लिए कहते हैं कि यह घोड़ा है। यद्यपि है वह चित्र है मगर आकार का ज्ञान कराने के लिए उसे घोड़ा कह देते हैं। ऐसा करने को उपचार कहते हैं। इस प्रकार शास्त्रों में अनेक स्थलों पर उपचार से भी काम लिया जाता है। यहां भी उपचार से अभिलाषा मानी है।

भगवान् को और कोई अभिलाषा नहीं है, केवल मोक्ष की अभिलाषा है, इस कथन का उद्देश्य यह है कि संसार के प्राणी अन्यान्य सांसारिक अभिलाषाओं का परित्याग करके केवल मोक्ष की ही अभिलाषा करें। जब तक कषाय का योग है तब तक आशा-कामना बनी ही रहती है। इसलिए और आशा न करके केवल यही आशा करो। कहा भी है—

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः ।

अर्थात्—उच्च अवस्था को प्राप्त मुनि-केवली क्या मोक्ष और क्या संसार-सभी विषयों में निस्पृह ही होते हैं। और भी कहा है-

यस्य मोक्षेऽप्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

अर्थात्- जिस महापुरुष को मोक्ष की भी इच्छा नहीं रह जाती, जो पूर्ण रूप से निरीह बन जाता है, जिसका मोह समूल नष्ट हो जाता है वही मोक्ष प्राप्त करता है ।

भगवान् के लिए जो विभिन्न विशेषण यहां दिये गये हैं, उनसे उनका अन्तरंग परिचय मिल जाता है । भगवान् की बाह्य विभूति का भी शास्त्र में वर्णन है । मस्तक से पैरों तक शरीर का, अशोक वृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्यों का, चौंतीस अतिशयों का, पैंतीस गुणों का। अतिशय सम्पदा और उपकार गुण का परिचय यहां संक्षेप में सुनाया जाता है ।

भगवान् के केश भुजमोचन रत्न के समान हैं। अथवा नील, काजल या मतवाले भ्रमर के पंखों के समान कृष्णता लिए हुए हैं। वह केश वनस्पति के गुच्छे के समान हैं और दक्षिण दिशा से चक्कर खाकर कुण्डलाकार हो गये हैं।

केश का वर्णन करके टीकाकार ने पाठ को संकुचित कर दिया है और पद्तल का वर्णन किया है। भगवान् के पद- तल (पैरों के तलुवे) रक्त वर्ण के कमल के समान कोमल और सुन्दर हैं ।

टीकाकार ने विस्तारभय से अन्य अवयवों का वर्णन न करके उववाई सूत्र का उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि उववाई सूत्र में भगवान् के अङ्गोपाङ्गों का जो वर्णन पाया जाता है वही वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

प्रधान पुरुष के शरीर में १००८ प्रशस्त लक्षण होते हैं। भगवान् के शरीर में वह सभी लक्षण विद्यमान हैं। भगवान् का धर्मचक्र, धर्मछत्र, चाँवर, स्फटिक रत्न के पाद-पीठ सहित सिंहासन आदि आकाश में चल रहे हैं।

इस बाह्य और अंतरंग विभूति से विभूषित भगवान् महावीर चौदह हजार मुनियों और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार से घिरे हुए हैं।

यह आशंका की जा सकती है कि पचास हजार साधु-साध्वियों का परिवार भगवान् के साथ था, या यहाँ परिवार की संख्या मात्र बताई गई है? इसका समाधान यह है कि यहां दोनों ही अर्थ निकल सकते हैं। अर्थात् इस परिवार का साथ रहना भी समझा जा सकता है और परिवार इतना था, यह मात्र भी समझा जा सकता है।

इस काल में इतने साधु-साध्वियों के एक साथ विहार होने में बहुत सी बातों का विचार हो सकता है, लेकिन जिस समय का यह वर्णन है उस समय के लोगों का प्रेम, उस समय के गृहस्थों की दशा, आदि बातों पर ध्यान देने से यह बात मालूम हो जायगी कि इतने साधु-साध्वियों के एक साथ विहार करने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। अकेले आनन्द श्रावक के यहां चालीस हजार गायें थीं। इस श्रावक के घर कितने साधुओं की गोचरी हो

सकती थी, यह सरलता से समझ में आ सकता है।

इस कथन से यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि सब साधु-साध्वी एक ही साथ विहार करते थे। शास्त्र में अलग-अलग विहार करने के प्रमाण भी विद्यमान हैं। जैसे-सूयगडांग सूत्र में गौतम स्वामी के अलग विहार करने का उल्लेख मिलता है। केशी स्वामी से चर्चा करने के लिए भी गौतम स्वामी ही गये थे। उस समय भगवान् साथ नहीं थे। इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि साधु अलग-अलग भी विहार करते थे।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। केवलज्ञानी के लिए दूर या पास में कोई अन्तर नहीं है। उनके लिए जैसे दूर, वैसे ही पास। ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाय कि भगवान् इतने परिवार से घिरे हुए पधारे, तब भी कोई असंगति नहीं है।

भगवान् चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार आर्यिकाओं के परिवार से घिरे हुए, अनुक्रम से अर्थात् आगे बड़ा और पीछे छोटा—इस क्रम से ग्रामानुग्राम यानी एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए पधारे।

कुछ लोगों की ऐसी भ्रममय धारणा है कि महापुरुष आकाश से उड़कर आते हैं-वे साधारण पुरुषों की भाँति पृथ्वी पर नहीं चलते! इस धारणा का विरोध करने के लिए ही भगवान् के विहार का यह वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर आकाश में उड़कर नहीं चलते थे, किन्तु ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पधारते थे। पक्षियों की भाँति उड़ना महा-

जब भगवान् स्वयं एक तिनका भी बिना मांगे नहीं लेते थे – एक तिनके को भी अपना नहीं मानते थे, तो मुनियों को सोचना चाहिए कि वे भी बिना याचना के कोई वस्तु कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?

जब भगवान् राजगृह के गुणशील नामक उद्यान में पधारे, तब भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवगण भगवान् को वन्दना करने के लिए किस प्रकार आये, कैसे बैठे, इत्यादि बातों का वर्णन उववाई सूत्र में विस्तार से पाया जाता है।

भगवान् के पधारने का समाचार राजगृह नगर में पहुँचा। जहाँ दो पंथ, तीन पंथ और चार पंथ मिलते थे, वहाँ बहुत से लोग एकत्रित होकर आपस में बात करने लगे- देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर यावत् सम्पूर्ण तीर्थङ्कर गुणों से विराजमान अपने नगर के गुणशील उद्यान में, समर्थ होने पर भी आज्ञा माँग कर तप-संयम में विचरते हैं। तथा- रूप अरिहंत भगवान् के नाम और गुणों के स्मरण का फल भी अपार है, तो भगवान् के सन्मुख जाकर उन्हें वंदना करने से कितना फल होगा ? इसलिए अविलम्ब चलें, और भगवान् महावीर को वंदना करके, नमस्कार करके उनके मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनें।

इस प्रकार परस्पर वार्त्तालाप करके उग्रवंशीय, भोग- वंशीय आदि राजकुमार, नगर के अन्य लोग तथा राजा श्रेणिक और रानी चेलना, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई रथ पर सवार होकर भगवान् को वंदना करने आये।

सब ने भगवान् को विधि पूर्वक वंदन नमस्कार किया। श्रेणिक राजा, चेलना रानी और समस्त परिषद् को सर्वानुगामिनी भाषा में अर्थात् सभी की समझ में आने वाली भाषा में, भगवान् ने धर्मोपदेश दिया।

प्रथम तो भगवान् सर्वज्ञ हैं—सब के मन की बात जानते हैं। दूसरे भगवान् का अतिशय ही ऐसा है कि वे प्रत्येक को ऐसी भाषा में धर्मतत्त्व समझा सकते हैं, जिस भाषा में वह समझ सकता हो। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्मतत्त्व सभी की समझ में सरलता से आ जाय। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया जाता है।

जंगल में रहने वाला एक जंगली मनुष्य कहीं जंगल में जा रहा था। उसके साथ उसकी चार स्त्रियाँ भी थीं। वह अपनी चारों स्त्रियों पर समान भाव से प्यार करता था। चलते-चलते रास्ते में एक स्त्री ने कहा—'अगर आप गायन गावें तो मैं स्वर से स्वर मिलाऊँ'। दूसरी स्त्री ने कहा—'मुझे प्यास लगी है, पानी पिलाइए'। तीसरी ने कहा—'मुझे भूख सता रही है, कहीं से कोई शिकार करो तो पेट की ज्वाला शान्त करूँ'। चौथी बोली—'मैं बहुत थक गई हूँ, बिस्तर कर दो तो मैं सो जाऊँ'।

चारों स्त्रियों की बात एक दूसरी से विरुद्ध है। लेकिन उस पुरुष ने ऐसा उत्तर दिया, जिससे चारों का समाधान हो गया। चारों ही अपनी-अपनी बात का उत्तर पा गईं। जंगली ने चारों की बात के उत्तर में कहा—'सर नहीं'।

प्राकृत भाषा में 'स्वर' के स्थान पर सर होता है। 'सर नहीं' इससे यह मतलब निकला कि मैं गाऊँ क्या, मेरा

स्वर तो चलता ही नहीं है। 'सर नहीं' इस उत्तर से पहली स्त्री यह समझी कि इनका कण्ठ नहीं चलता है, इसलिए यह गा नहीं सकते। दूसरी स्त्री ने जल माँगा था। 'सर नहीं' इस उत्तर से वह यह समझी कि तालाब नहीं है, यह पानी कहाँ से लावें! तीसरी ने शिकार करने के लिए कहा था। 'सर नहीं' इस उत्तर से वह समझी कि जब सर अर्थात् बाण ही नहीं तो यह शिकार कैसे कर सकते हैं? सर अवसर को भी कहते हैं। चौथी स्त्री ने विस्तर करने की बात कही थी। वह इस उत्तर से यह समझी कि अभी विस्तर करने का अवसर नहीं है-भला राह चलते सोने का अवसर कहाँ?

इस प्रकार पुरुष के एक ही उत्तर से चारों स्त्रियाँ सन्तुष्ट हो गईं। अर्थात् उन्हें अपनी-अपनी बात का उत्तर मिल गया।

तात्पर्य यह है कि जब एक साधारण जंगली भी ऐसा उत्तर दे सकता है कि जिससे चारों स्त्रियाँ एक ही बात में अपना-अपना उत्तर पा सकती हैं तो जो समस्त विद्याओं के स्वामी हैं-जिन्हें सम्पूर्ण विद्याएँ कण्ठस्थ हैं, वे भगवान् यदि सर्वानुगामिनी भाषा बोलें तो क्या आश्चर्य की बात है?

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, उसका भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उसका मूल यह है कि भगवान् ने अस्तिकाय की बात कही और कहा कि लोक भी है।

'लोक' किसे कहते हैं? लोकृ-विलोकने धातु से लोक शब्द निष्पन्न हुआ है। 'लोक्यते इति लोकः' अर्थात् जो देखा जाय वह लोक है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि सब

को समान तो दिखता नहीं है, इस कारण लोक एक न रहकर अनेक हो जाएँगे। इसका उत्तर यह है कि केवल ज्ञान से-निरावरण दृष्टि से जो देखा जाय वही लोक है। निरावरण दृष्टि भिन्न प्रकार की नहीं होती, अतएव लोक की एकरूपता में कोई बाधा नहीं आती।

प्रश्न-जो केवलज्ञान से देखा जाय वह लोक है, ऐसा अर्थ मानने पर अलोक भी लोक कहलाएगा, क्योंकि केवल-ज्ञान द्वारा अलोक भी देखा जाता है?

उत्तर-यद्यपि केवलज्ञानी लोक और अलोक-दोनों को ही देखते हैं, फिर भी सिर्फ देखने मात्र से ही अलोक, लोक नहीं हो सकता। केवली भगवान् आकाश के जिस प्रदेश को पंचास्तिकायमय देखते हैं उस प्रदेश की संज्ञा लोक है और जिस आकाश-विभाग को पंचास्तिकाय से शून्य शुद्ध आकाश रूप में देखते हैं उसकी संज्ञा अलोक है। इस प्रकार लोक और अलोक का विभाग होने से किसी प्रकार की गड़-बड़ी नहीं होती।

अलोक का अर्थ 'न देखा जाना' है। मगर यह 'न देखा जाना' ज्ञान की न्यूनता का परिचायक नहीं है। जब कोई वस्तु विद्यमान हो मगर देखी न जाय तो दृष्टि की न्यूनता समझी जायगी। जहाँ वस्तु न हो वहाँ अगर वह नहीं दिखाई देती तो उसमें दृष्टि सम्बन्धी कोई दोष नहीं माना जा सकता। मान लीजिए एक जगह जल है और दूसरी जगह स्थल है। स्थल की जगह अगर कोई जल के विषय में पूछे तो यही कहा जायगा कि यहाँ जल नहीं है। वास्तव

में वहाँ जल है ही नहीं तो दिखाई कैसे देगा? इस प्रकार भगवान् के केवलज्ञान में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है, लेकिन जहाँ उन्होंने पांच अस्तिकाय देखे उसे लोक कहा और जहाँ एक ही अस्तिकाय-लोक दिखाई दिया उसे अलोक कहा। वास्तव में वहाँ एक ही अस्तिकाय है, शेष चार अस्तिकाय हैं ही नहीं तो दीखते कहाँ से?

प्रश्न-अलोक, लोक में क्यों नहीं मिल जाता? समुद्र में मर्यादा है इसलिए वह स्थल से नहीं मिलता। लेकिन लोक-अलोक के बीच में क्या कोई दीवार है जो अलोक को लोक के साथ नहीं मिलने देती? जीव नरक से निकल कर सिद्धशिला तक-चौदह राजू लोक तक जाता है, फिर क्या कारण है कि लोक के जीव अलोक में नहीं जाते?

उत्तर-हम जब किसी वस्तु के बीच का अंग देखते हैं तो यह समझ लेते हैं कि इसका आदि और अन्त भी कहीं अवश्य होगा। इसी प्रकार स्थूल लोक हम मध्य में देखते हैं तो इसकी आदि और अंत भी कहीं होगा ही। जब आदि और अंत है तो सीमा हो ही गई। इसके अतिरिक्त पदार्थ जहाँ के तहाँ बने रहेंगे तभी लोक और अलोक का नाम रहेगा। अगर लोक के पदार्थ अलोक में गये तो लोक और अलोक नाम रहेगा ही क्यों? ऐसी स्थिति में तो लोक-अलोक के पृथक् २ नाम ही मिट जायँगे।

प्रश्न-लोक के पदार्थों को अलोक में न जाने देने वाली शक्ति क्या है? पदार्थों को अलोक में जाने देने से कौन रोकता है?

उत्तर-पदार्थों को अलोक में न जाने देने वाली शक्ति धर्मास्तिकाय है। जैसे जहाज और मछली को यद्यपि पानी

नहीं चलाता किन्तु पानी के बिना उनका चलना संभव भी नहीं है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय किसी पदार्थ को प्रेरित करके गति वही कराता, फिर भी धर्मास्तिकाय के विना जीव और पुद्गल की गति नहीं हो सकती। धर्मास्तिकाय जल के समान है। जहां धर्मास्तिकाय रूपी जल भरा है वहीं जीव और पुद्गल जाते हैं। जहां धर्मास्तिकाय नहीं है वहां उनका गमन होना असंभव है। इस प्रकार लोक के पदार्थों को अ-लोक में न जाने देने का निमित्त धर्मास्तिकाय है।

प्रश्न—लोक चौदह राजू प्रमाण ही क्यों है ?

उत्तर—प्रकृति से ही लोक इतना बड़ा है। अगर किसी ने लोक का निर्माण किया होता तो कहा जा सकता था कि उसने इतना बड़ा ही क्यों वनाया ? और बड़ा या छोटा क्यों नहीं वनाया ? लोक तो प्राकृतिक ही अनादि काल से इतना वड़ा है। उसके विषय में क्यों और कैसे को अवकाश नहीं है। अग्नि उष्ण क्यों है ? जल शीतल क्यों है ? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि-

स्वभावोऽतर्कगोचरः।

अर्थात्—स्वभाव में किसी की तर्क नहीं चलती।

इसी प्रकार लोक का पूर्वोक्त परिणाम स्वाभाविक है। उसमें तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता। लोक का जो स्वाभाविक परिमाण है उसे शास्त्रकारों ने वतला दिया है।

धर्मास्तिकाय पदार्थ जैन शास्त्र के सिवाय और कहीं नहीं है। खोज तो वहुतों ने की, मगर केवलज्ञानी के सिवाय

इस पदार्थ को कोई न वता सका। लोक अलोक की कल्पना बहुतों ने की है, लेकिन लोक अलोक के विभाग का वास्तविक कारण जैन शास्त्र के अतिरिक्त और कोई न बतला सका। यही परिपूर्ण ज्ञान का परिचायक है।

भगवान् यही उपदेश दे रहे हैं कि-'हे जगत् के जीवों! लोक भी है और अलोक भी है' इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् ने लोक-अलोक का अस्तित्व बता दिया। मगर हमें अपने कर्त्तव्य का भी विचार करना चाहिए।

मानव डर रे।

मानव डर रे चौरासी में घर है रे, मानव डर रे।
तू तो जाणे छे यो घर म्हारो रे,
प्राणी थारे न चलसी लारो रे,
थाने बाल ने करसी छारो रे, मानव डर रे॥

भगवान् ने लोक का अस्तित्व इसलिए बतलाया है कि जगत् के जीव संसार से भयभीत और विरक्त हों। हे जीव तू किस सम्पदा पर गर्व कर रहा है?

एक बालक को उसका शिक्षक नक्शा बता रहा था बालक का पिता भी वहीं बैठा था। बालक ने अपने पिता से कहा-पिताजी, देखिए इस नक्शे में कैसे कैसे पदार्थ बताये गये हैं। लेकिन पिताजी, आप एक मिल के मालिक हैं। उस मिल ने बहुत-सी जगह रोक रक्खी है। वह मिल इस नक्शे में कहाँ है? मैंने बहुत खोजा, मगर अपना मिल नक्शे में कहीं नहीं मिला। आप बतलाइए वह मिल इसमें कहाँ है?

बालक की बात सुनकर पिता ने कहा-भोले बच्चे! जिस नक्शे में इतना बड़ा देश बताया गया है उसमें अगर एक-एक मिल बताया जाय तो कैसे काम चलेगा? जिस नक्शे में कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगर भी एक-एक बिन्दु में बतलाये हैं, उसमें एक मिल का क्या पता चलेगा?

बालक ने कहा-आप अपने मिल को बहुत बड़ा बतलाते थे, इसलिए मैंने पूछा। लेकिन इस देश के नक्शे में ही जब आपके मिल का पता नहीं है तो दुनिया के नक्शे में उस का क्या पता लगेगा? वह मिल चाहे जितना बड़ा हो मगर दुनिया में उसका कुछ भी स्थान नहीं है।

बालक की यह बात सुनकर पिता का गर्व शान्त हो गया। उसने सोचा-बालक की इस भोलेपन की बात में कितना महान् तथ्य छिपा हुआ है? मैं जिस पर गर्व करता हूँ, वह दुनिया की दृष्टि में नगण्य है—तुच्छ है!

ज्ञानियों ने यह स्पष्ट कह दिया है कि लोक में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव जन्म-मरण न कर चुका हो। इस जीव ने सम्पूर्ण लोक में अनन्त चक्कर काटे हैं, फिर भी यह जैसा का तैसा है। अतएव ममता त्याग कर समता धारण करना ही सार है।

आप कहेंगे-हमें क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि नक्शे में आपका घर न होने से आप नक़्शा बनाने वाले पर दावा नहीं करते हैं। इतनी निस्पृहता एवं उदारता आप में है ही। इस निस्पृहता और उदारता को आगे बढ़ाओ। जैसे थोड़े से जीवन के लिए घर बनाते हो, वैसे

ही अनन्त जीवन के घर का सोच करो। इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा था—

> पासाएकारइत्ताणं, वद्धमाणगिहाणिय।
> वालग्गपोइयाओय, तओ गच्छसिखत्तिया॥

उत्तराध्ययन ९ वां अ०

अर्थात्—पहले आप ऐसा घर बनाइए, जिसे सारा संसार देखे, फिर चाहे दीक्षा ले लेना।

इसके उत्तर में राजर्षि नमि ने कहा—

> संसयंखलुसोकुणई, जोमग्गेकुणइघरं।
> जत्थेवगन्तुमिच्छेज्जा, तत्थकुविज्जसासयं॥

उत्तराध्ययन ९ वां अ०

मित्र! तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु जिसे यहां से परलोक जाने में संशय हो, वह भले यहां घर बनावे। जिसे परलोक जाने का विश्वास है-परलोक के घर के संबंध में संशय नहीं है वह यहां घर क्यों बनावें? वह वहीं अपना घर क्यों न बनावें? यहां थोड़े दिन रहना है तो घर बनाने की क्या आवश्यकता है? घर तो कहीं बनाना ही है, सो ऐसी जगह घर बनाना होगा जहां सदैव रह सकें—जिसे छोड़कर फिर भटकना न पड़े। राह चलते, रास्ते में घर बनाना बुद्धिमत्ता नहीं है।

मित्रों! एक अल्पकालीन जीवन के लिए घर बनाते हो तो जहां जाना है-सदा रहना है, वहां भी तो घर बनालो। साधु-सन्त और सतियाँ वहीं का घर बना रही हैं। आप भी

वहां घर बनाने की अभिलाषा रखते हैं। मगर वह घर बनाने के लिए त्याग चाहिए। जीवन की आशा भी छोड़ देनी होगी। ऐसा त्यागी ही वहां घर बना सकता है। जब जाना निश्चित है और यह जानते हो कि शरीर नाशवान् और आत्मा अविनाशी है, तो अविनाशी के लिए अविनाशी घर क्यों नहीं बनाते ?

सराय दुनिया है कूच की जाँ।
हर एक को खोफ दम बदम है॥
रहा सिकन्दर यहाँ न दारा।
न है करीदाँ यहा न जम है॥
मुसाफिराना थके हो जागो।
मुकाम फिरदो सही दुरम है॥
सफर है दुशवार खुवाब कबतक।
बहुत बड़ी मंजिल अदम है॥
नासिस जागो कमर को बांधो।
उठावो बिस्तर के रात कम है॥

संसार सराय है, इसमें स्थायी रूप से नहीं रह सकते। आप किसी मकान को ही सराय समझते हैं मगर वास्तव में सारा संसार ही सराय है। इसमें आज तक कोई स्थायी न रहा, न रहेगा। सिकन्दर एक बड़ा बादशाह हुआ है, जिसने थोड़े से हिन्दुस्तान के सिवाय और अनेकों देश जीत लिये थे। जब वह मरने लगा, तब उसने कहा--मेरे हाथ कफन से बाहर रखना। उसका जनाज़ा निकला। लोग सोचने लगे—

'शाही उसूल के खिलाफ़ इस बादशाह के हाथ कफ़न से बाहर क्यों निकले हैं?' चलते-चलते जब एक मैदान आया, तब शाही चोबदार एक टीले पर खड़ा होकर कहने लगा-'अपने बादशाह की अन्तिम बात सुनिये।' सब लोग उत्सुक होकर अपने मृत बादशाह की अंतिम बात सुनने के लिए व्यग्र हो उठे। सन्नाटा छा गया। चोबदार ने कहा-आपके बादशाह कह गये हैं- कि मैंने जीवित अवस्था में आप लोगों को अनेक उपदेश दिये हैं, लेकिन एक उपदेश देना बाकी रह गया था, जो अब देता हूँ। मृत्यु के समय ही इस उपदेश का मुझे खयाल आया। मैंने हजारों-लाखों मनुष्यों के गले काट कर यह सल्तनत खड़ी की और काबू में रक्खी है। मुझे इस सल्तनत पर बड़ा नाज़ था और इसे मैं अपनी समझता था। लेकिन यह दिन आया। मेरे तमाम मन्सूबे मिट्टी में मिल गये। सारा ठाठ यहीं रह गया और मैं चलने के लिए तैयार हूँ। मेरी मुसाफिरी में साथ देने वाला कोई नहीं है। मुझे अकेले ही जाना होगा। मैं आया था-हाथ बाँधकर और जा रहा हूँ खुले हाथ। अर्थात् जो कुछ लाया था वह भी यहीं रह गया। मेरे साथ सिर्फ नेकी-बदी जाती है; शेष सारा वैभव यहीं रहा जाता है।

यह बात चाहे कोई भी क्यों न कहे, यह निश्चत है कि एक दिन जाना होगा। जब जाना निश्चित है तो समय रहते जाग कर जाने की तैयारी क्यों नहीं करते? साथ जाने वाली चीज़ के प्रति घोर उपेक्षा क्यों सेवन कर रहे हो? समय पर जागो और अपने हिताहित का विचार करो।

भगवान् महावीर को वन्दना करने के लिए जो परिषद् गई थी, उसे भगवान् ने धर्मदशना दी। भगवान् ने लोकालोक का

स्वरूप बतलाया और जिस धर्म से आत्मा मोक्ष का अधिकारी बनता है, उस धर्म का स्वरूप निरूपण किया । धर्मदेशना सुनकर और यथाशक्ति धर्म धारण करके सब लोग अपने-अपने स्थान को चले गये ।

प्रकृत शास्त्र का मूल वक्ता कौन है ? श्रोता कौन है ? इस प्रकार गुरुपर्वक्रम दिखलाने के लिए शास्त्रकार कहते हैं:-

मूल-तेणं कालेणं, तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम-गुत्ते णं, सत्तुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणयपुलयनिग्घसपम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेयलेस्से, चोद्दसपुव्वी, चउनाणोवगए, सव्वक्खरसन्निवाई, समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते, उड्ढंजाणू, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । (२)

संस्कृत-छाया-तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नामाऽनगारः, गौतमगोत्रः, सप्तोत्सेधः, समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितः, वज्रर्षभनाराचसंहननः, कनकपुलकनिकषपक्ष्म-(पद्म) गौरः, उग्र-

करने के लिए उन्हें 'अनगार' विशेषण लगाया गया है। अनगार का अर्थ है-घर रहित जिसके घर न हो अर्थात् साधु। इस विशेषण से यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्रभूति श्रावक नहीं, साधु थे।

संसार में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, अतएव जब तक गोत्र न बतलाया जाय तब तक किसी व्यक्ति-विशेष को समझने में भ्रम हो सकता है। इस प्रकार का भ्रम न हो, इस उद्देश्य से इन्द्रभूति अनगार का गोत्र भी बतलाया गया है। इन्द्रभूति अनगार का गोत्र गौतम था। वे अपने गोत्र से प्रसिद्ध थे। जैसे आजकल 'मोहनदास करमचन्द' कहने से कई लोग चक्कर में पड़ जाएँगे मगर 'गाँधीजी' कहने से शीघ्र ही उन्हें पहचान जाएँगे। जैसे गाँधीजी अपने गोत्र से प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार इन्द्रभूतिजी भी अपने गौतम गोत्र से ही प्रसिद्ध थे। अर्थात् इन्द्रभूति कहने से तो समझने में किसी को अड़चन भी हो सकती थी किन्तु 'गौतम स्वामी' कह देने से सब समझ जाते थे।

इस प्रकार गौतम स्वामी के नाम-गोत्र का परिचय देने के पश्चात् अब उनके शरीर का परिचय दिया जाता है।

यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति।

सामुद्रिक शास्त्र बतलाता है कि जिसकी आकृति अच्छी होगी उसमें गुण भी अच्छे होंगे। इस कथन के अनुसार ही गौतम स्वामी के शरीर का परिचय दिया गया है।

गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ ऊँचा था। यों तो सभी मनुष्य अपने-अपने हाथ से ३॥ हाथ के होते हैं, मगर

यहां ऐसा नहीं समझना चाहिए। जैन शास्त्र में नापने के के परिमाणों का बहुत स्पष्ट वर्णन दिया गया है। अंगुल तीन प्रकार के होते हैं--(१) प्रमाणांगुल (२) आत्मांगुल और (३) उत्सेधांगुल। जो वस्तु शाश्वत है अर्थात् जिसका नाश नहीं है वह प्रमाणांगुल से नापी जाती है। ऐसी वस्तु का जहाँ परिमाण बतलाया गया हो वहां प्रमाणांगुल से ही समझना चाहिए। आत्मांगुल से तत्तत् कालीन नगर आदि का परिमाण बतलाया जाता है। इस पांचवे आरे को साढ़े दस हजार वर्ष बीतने पर उस समय के लोगों के जो अंगुल होंगे, उन्हें उत्सेधांगुल कहते हैं। गौतम स्वामी का शरीर उत्सेधांगुल से सात हाथ का था। इस प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी के हाथ से उनका शरीर साढ़े तीन हाथ ही था, परन्तु पांचवें आरे के साढ़े दस हजार वर्ष बीत जाने पर यह साढ़े तीन हाथ ही सात हाथ के बराबर होंगे। इस बात को दृष्टि में रखकर ही गौतम स्वामी का शरीर सात हाथ लम्बा बतलाया गया है। गौतम स्वामी आकार में सुडौल और सुगठित थे।

शरीर के मुख्य दो भाग माने जाते हैं। एक भाग नाभि के ऊपर का और दूसरा भाग नाभि के नीचे का। जिस मनुष्य के सम्पूर्ण अवयव अच्छे हों, उनमें किसी प्रकार की न्यूनता न हो-प्रमाणोपेत हों, उसे समचतुरस्रसंस्थानवान् कहते हैं।

अथवा-किसी एक अंग को दृष्टि में रखकर अन्यान्य अंगों का तदनुसार जो परिमाण है अर्थात् आँख इतनी बड़ी है तो कान इतना बड़ा होना चाहिए, कान इतना बड़ा है तो ललाट या नाक इतनी बड़ी होनी चाहिए, इस प्रकार के

परस्पर सापेक्ष परिमाण के अनुसार जो आकृति हो वह समचतुरस्रसंस्थान कहलाती है।

अथवा-कोई मनुष्य समतल भूमि पर पालथी मार कर बैठ जावे। उसके बीच में से एक डोरी निकाल कर ललाट तक नापे। ललाट तक नापी हुई रस्सी से दोनों घुटनों के अन्तर को, तथा दाहिने कंधे और बाँये घुटने के अन्तर को और बाँये कंधे तथा दाहिने घुटने के अन्तर को नापे। अगर चारों जगह का नाप बरावर हो तो समचतुरस्रसंस्थान समझना चाहिए।

प्रश्न-सर्प भी समचतुरस्रसंस्थान वाला हो सकता है, मगर पूर्वोक्त समचतुरस्रसंस्थान का लक्षण उसमें घटित नहीं होता। सर्प में जितनी लम्बाई होती है उसके हिसाब से मोटाई नहीं पाई जाती। इसलिए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस योनि में जो जन्मा हो उसके परिमाण के अनुसार जो सुडौल और सुन्दर हो वह समचतुरस्रसंस्थान वाला कहलाता है। इस प्रकार कौन, कितना ऊँचा, लम्बा आदि हो, इसका हिसाब अलग-अलग हो जाता है। इस विषय का विचार शास्त्रों में यथास्थान किया भी गया है।

गौतम स्वामी के शरीर की आकृति का वर्णन किया। आकृति सुन्दर होने पर भी हाड़ निर्बल हो सकते हैं। मगर गौतम स्वामी की हड्डियां कमजोर नहीं थीं, यह प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है-गौतम स्वामी वज्रर्षभनाराच-संहनन वाले थे।

ऋषभ का अर्थ पट्टा है और वज्र का अर्थ कीली है। नाराच का अर्थ है दोनों ओर खींचकर बँधा होना। यह

तीनों बातें जहाँ विद्यमान हो उसे वज्र-ऋषभ-नाराचसंहनन कहते हैं। जैसी लकड़ी में लकड़ी जोड़ने के लिए पहले लकड़ी की मजबूती देखी जाती है, फिर कीली देखी जाती है और फिर पत्ती देखी जाती है।

कहा जा सकता है कि हाड़ में कीली होने की बात आधुनिक विज्ञान से संगत नहीं है, तब यह क्यों कही गई है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने कहा है कि यह सब उपमा-कथन है। पट्टा, कीली और बन्धन होने से मजबूती आजाती है, और मजबूती को ही सूचित करना यहाँ शास्त्रकार का प्रयोजन है। सारांश यह है कि गौतम स्वामी का शरीर हाड़ों की दृष्टि से भी सुदृढ़ और सबल है। जिस का शरीर बलवान् होता है उसका आत्मा भी प्रायः बलवान् होता है।

आकृति की सुन्दरता और अस्थियों की सुदृढ़ता होने पर भी शरीर का वर्ण निन्दनीय हो सकता है। पर गौतम स्वामी के विषय में यह बात नहीं थी। यह स्पष्ट करने के लिए उन्हें 'कनक पुलकनिकषपद्मगोर' विशेषण लगाया गया है। कनक का अर्थ है सोना। सोने के टुकड़े को काट कर कसोटी पर घिसने से जो उज्ज्वल रेखा बनती है, उस रेखा के समान सुन्दर गौतम स्वामी के शरीर का वर्ण था। अथवा पद्म-कमल के केसरे जैसे पीतवर्ण होते हैं, वैसा ही गौर वर्ण गौतम स्वामी का था।

वृद्ध आचार्यों का यह भी कथन है कि सोने का सार निकाल कर कसौटी पर कसने से जिस वर्ण की रेखा बनती है, वही वर्ण गौतम स्वामी के शरीर का था। सोने का सार

निकाल कर कसौटी पर घिसने से होने वाली रेखा का वर्ण और भी अधिक सुन्दर होता है। इस प्रकार गौतम स्वामी का अतीव उज्ज्वल गौर वर्ण अतिशय सुहावना था।

अथवा-सोना तपाने पर गल जाता है। गले हुए सोने की बिन्दु का जो रंग होता है वैसा ही वर्ण गौतम स्वामी के शरीर का था।

यहाँ तक गौतम स्वामी की शरीर-सम्पत्ति का वर्णन किया गया। मगर शरीर-सम्पत्ति की विशेषता से ही किसी पुरुष की महत्ता नहीं है। मनुष्य की वास्तविक महत्ता उसके सद्गुणों पर निर्भर है। हाड़ से ही लाड़ करने वाले वहिरात्मा कहलाते हैं। अतएव यह देखना चाहिए कि गौतम स्वामी में क्या गुण थे? शास्त्रकार बतलाते हैं कि गौतम स्वामी हीन चारित्र वाले नहीं थे, किन्तु उग्र तप करते थे। उनका तप इतना उग्र है कि कायर पुरुष उसका विचार करके ही काँप उठेगा।

शारीरिक गठन और शारीरिक सौन्दर्य उसी का प्रशस्त है जिसमें तप की मात्रा विद्यमान है। सुन्दरता हुई मगर तपस्या न हुई तो वह सुन्दरता किस काम की? तपहीन सुन्दर शरीर तो आत्मा को और चक्कर में डालने वाला है।

जिसमें तप होता है उसी की महिमा का बखान किया जाता है। गौतम स्वामी घोर तपस्वी थे, इसी कारण साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ उनका गुण-गान करता है।

गुण अरूपी और शरीर रूपी है। निराकार का ध्यान साकार के अवलम्बन से किया जाता है। गौतम स्वामी के

गुणों का ध्यान करने के लिए उनका शरीर का ध्यान करना पड़ता है। गौतम स्वामी के शरीर का ध्यान करते हुए ही यह कहा गया है कि वह ऐसे गौर-वर्ण और सुन्दर थे कि उनके सामने देवता भी लज्जित हो जाते थे।

ध्यान कई प्रकार से किया जाता है। एक पिण्डस्थ ध्यान है, जिसमें पिण्ड का चिन्तन किया जाता है। रूपस्थ भी एक ध्यान है जिसमें वास्तविक रूपका ध्यान करना पड़ता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब पिण्ड का ध्यान किया जाता है तो फिर भगवान् की मूर्त्ति बनाकर भगवान् का ध्यान करने में क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अगर मूर्त्ति से केवल ध्यान का ही काम लिया जाय तो कोई हानि नहीं है, लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि गौतम स्वामी के शरीर को भी शरीर कहा है, चैतन्य नहीं कहा है। यद्यपि शरीर और चैतन्य साथ हैं एकमेक हैं, फिर भी शरीर को चैतन्य न कहकर शरीर ही कहा और शरीर का ही वर्णन किया। अब अगर कोई शरीर को ही घोर तप आदि कह दे अर्थात् शरीर से गुणों का अभेद कहने लगे तो वह कथन ठीक कैसे माना जा सकता है? राजा प्रदेशी शरीर और आत्मा को अभिन्न कहता था, इसी कारण उसे नास्तिक कहते थे, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं। जैसे आत्मा को देखने और जानने के लिए शरीर को देखना और जानना आवश्यक है, इसी प्रकार यदि ईश्वर को जानने के लिए मूर्त्ति मानी जाती है तो हानि नहीं है, बशर्ते कि यह समझ कर मूर्त्ति का अवलोकन किया जाय कि ईश्वर और मूर्त्ति अलग-अलग हैं, मैं केवल ईश्वर पर

दृष्टि जमाने के लिए मूर्त्ति को देखता हूँ। इस प्रकार विचार रखकर मूर्त्ति को देखा जाय और ईश्वर को मूर्त्ति से भिन्न माना जाय तब तो कोई गड़बड़ ही न हो, लेकिन आज तो लोग मूर्त्ति को ही भगवान् माने बैठे हैं।

मूर्त्ति को भगवान् मानना जड़ को चेतन मानना है। यद्यपि शरीर और आत्मा निकटवर्त्ती हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं। गीता में कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अ० २। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २॥

अर्थात्-हे अर्जुन! आत्मा वह है जो शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती। शरीर जन्मता और मरता है परन्तु आत्मा का जन्म नहीं, और मरण नहीं, हाँ, उपचार से आत्मा, शरीर के साथ अवश्य जन्मता-मरता है, मगर यह उपचार है, वास्तविकता नहीं। आत्मा न भूतकाल में बना है, न वर्त्तमान में बन रहा है और न भविष्य में बनेगा ही। आत्मा भूतकाल में था, वर्त्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा।

अतीत काल कितना है, इसका विचार करो। आजकल विक्रमीय संवत् १९८८ है*। विक्रम राजा को हुए १९८८ वर्ष व्यतीत हो गये। परन्तु उससे भी पहले काल था या नहीं? इस अनन्त काल को माप करके भी आप अपने को भूल रहे

---

* यह देहली में व्याख्यान हो रहा था उस समय सं० १९८८ था

हैं। आत्मा ने अनन्त काल मापा है। मापने वाला बड़ा होता है और जिसे मापा जाता है वह उससे छोटा होता है। रत्न बड़ा नहीं होता उसका मूल्यांकन करने वाला बड़ा होता है। कदाचित् तुम यह समझो कि हम सौ वर्ष पहले नहीं थे, तो यह तुम्हारी भूल होगी। आपने ऐसे-ऐसे अनन्त शरीर ग्रहण करके त्यागे हैं। आत्मा सदा से है, सदा रहेगा। आप शरीर के पीछे आत्मा को भूल बैठे हैं, यही बुराई है। इसी प्रकार लोग मूर्त्ति के पीछे ईश्वर को भूल बैठे हैं। मूर्त्ति को ऐसा पकड़ा कि और कोई बात ही याद न रही। यही बुराई है।

एक आदमी वृक्ष की शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखता है। और दूसरा शाखा के सहारे के बिना ही उसे देखता है। बिना शाखा के सहारे के चन्द्रमा को देखना तो उत्तम है ही और शाखा का सहारा लेकर चन्द्रमा को देखना भी बुरा नहीं है। लेकिन शाखा को ही चन्द्रमा मान बैठना भूल है। इसी प्रकार मूर्त्ति के सहारे ईश्वर का स्मरण करना बुरा नहीं है लेकिन लोग तो मूर्त्ति को ही ईश्वर मान बैठे हैं। यह भयंकर भूल है।

अगर कोई आदमी बिना शाखा का अवलम्बन लिये ही चन्द्र देखता है तो क्या हानि है? फिर किसी को यह कहना कि तुम मूर्त्ति क्यों नहीं मानते पूजते हो, कैसे उचित कहा जा सकता है?

अगर कोई यह कहे कि हम ईश्वर की मूर्त्ति से ईश्वर का ध्यान करते हैं तो इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि समता भाव मूर्त्ति पूजने वालों में अधिक है या न पूजने वालों में? अगर अमूर्त्ति पूजकों की अपेक्षा, मूर्त्ति पूजकों में समता

भाव की अधिकता नहीं है तो फिर उनका यह कथन सत्य कैसे माना जाता है कि वे मूर्त्ति का अवलम्बन करके ईश्वर का ध्यान करते हैं ?

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को भूलकर और केवल मूर्त्ति को ही ईश्वर समझ कर उसकी विनय-भक्ति करना उचित नहीं कहा जा सकता। वीतराग की मूर्त्ति देखकर वीतरागता का भाव लाना चाहिए-वीतराग बनने का प्रयास करना चाहिए, मगर यहाँ तो उलटी गंगा बहती नज़र आती है। वीतराग बनने की बात तो दूर रही, स्वकीय राग-भाव से प्रेरित होकर लोग वीतराग की मूर्त्ति को ही सराग बनाने की चेष्टा करते हैं। अगर साधु को कुंडल एवं हार पहनाओ तो क्या यह विवेक पूर्ण भक्ति कहलाएगी ? नहीं।

साधु को देखकर और साधुता का चिन्तन करके आपको वैराग्य भाव होना चाहिए था, वही सच्ची साधु-भक्ति कहलाती, लेकिन साधु को ही मुकुट कुण्डल पहना देना उचित नहीं समझा जा सकता। मूर्त्ति पर मुकुट कुण्डल रखने से कौन कहेगा कि यह वीतराग की मूर्त्ति है ? भगवान् तो निर्ग्रन्थ थे, मुक्त थे। उनकी इस भावना को छोड़कर सराग भावना में कैसे पड़ते हैं ? वीतराग भावना को छोड़कर सराग-भावना में मूर्त्ति देखकर पड़ना वृक्ष की शाखा को ही चन्द्रमा मानने के समान भूल है। यदि मूर्त्ति से विकार के भाव मिट जाते हों तब तो मूर्त्ति देखकर ईश्वर का ध्यान करने में कोई आपत्ति नहीं, मगर वीतराग को ही सराग बना डालना अवश्य आपत्ति जनक है।

छद्मस्थ को शारीरिक (पिण्डस्थ) ध्यान करना पड़ता है, लेकिन शारीरिक ध्यान के साथ आत्मिक गुणों का संबंध

अवश्य होना चाहिए। गौतम स्वामी के शरीर के साथ उनके आत्मिक गुणों का भी संबंध है, इसी कारण उनके शरीर का ध्यान किया जाता है और आत्मिक गुणों का संबंध बताने के लिए ही उनके तप का भी उल्लेख कर दिया है।

गौतम स्वामी का ऐसा शरीर तप के प्रभाव से है। दीपक में जो प्रकाश होता है, वह अग्नि का होता है, पात्र का नहीं। अग्नि में ही ऐसी शक्ति है कि वह पात्र को प्रकाशित कर देती है। इसी प्रकार तप के प्रताप से ही गौतम स्वामी का शरीर प्रकाशमान है। जिस शरीर में तप विद्यमान है वह शरीर भी वंदनीय है।

आज गौतम स्वामी नहीं हैं, और न उनके तप की समानता करने वाला ही कोई मौजूद है, लेकिन उनका आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित है। इसी आदर्श से अनुप्राणित होकर महात्मा लोग बड़े-बड़े तप करते हैं। साधुजन तप का केवल वर्णन ही नहीं करते, वरन् आचारण करके भी बतलाते हैं। इससे यह सिद्ध है कि शारीरिक दुर्बलता के इस जमाने में भी इतनी तपस्या की जा सकती है तो सबल संहनन वाले प्राचीन काल में कितनी तपस्या की जाती होगी !

गौतम स्वामी का तप शक्त्यनुसार साधु करते हैं तो क्या आनन्द और कामदेव का तप श्रावक करके नहीं दिखला सकते ?

तप से शरीर क्षीण हो जाता है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। तपस्या करने से शरीर उल्टा नीरोग और अच्छा रहता है। अमेरिका वालों ने बारह करोड़ पौंड या रुपये केवल उपवास-चिकित्सा की खोज और व्यवस्था में व्यय किये हैं। उन्होंने

जान लिया है कि उपवास मन, शरीर, बुद्धि आदि के लिए अत्यन्त लाभदायक है। उन्होंने अनेक रोगों के लिए उपवास-चिकित्सा की हिमायत की है। आपने डाक्टर पर भरोसा करके, अपना शरीर डाक्टरों की कृपा पर छोड़ दिया है, आपको उपवास पर विश्वास नहीं है, इसी कारण इतने रोग फैल रहे हैं। शारीरिक लाभ के सिवाय उपवास से इन्द्रियों का निग्रह भी होता है और संयम-पालन में भी उससे सहायता मिलती है।

तप वड़ो संसार में, जीव उज्जवल होवे रे।
कर्मांरो ईंधन जले, शिवपुर नगर सिधावे रे ॥ तप० ॥
तपस्या तो कीनी श्रीमहावीरजी, कठिन कर्मा जो भागा रे।
धन्ना मुनीश्वर तप तप्या, सर्वार्थ सिद्ध जइ लागा रे ॥तप०॥

संसार में तप वड़ी चीज़ है। तप का प्रभाव अद्भुत और अपार है। जिस काल ने, जिस देश ने और जिस समाज ने तप को अपनाया है—जो तप की शरण में गया है, उसे आनन्द-मंगल प्राप्त हुआ है। तप से अशांति और अमंगल दूर हो जाते हैं।

तपस्या से देव सेवा करे, भोर लक्ष्मी पिण आवे रे।
ऋद्धि वृद्धि सुख-सम्पदा, आवागमन मिटावे रे॥तप०॥

यह संसार तपोमय है। तप से देवता भी काँप उठते हैं और तप के वशवर्त्ती होकर तपस्वी के चरणों का शरण ग्रहण करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि, सुख-सम्पत्ति भी तप से ही मिलती है। तीर्थंकर की ऋद्धि समस्त ऋद्धियों में श्रेष्ठ है।

वह ऋद्धि भी तपस्वी के लिए दूर नहीं है। भगवान् महावीर ने नन्दराजा के भव में ग्यारह लाख, पच्चीस हजार मास-खमन का तप किया था। कोटिल मुनि के भव में करोड़ों मास का तप किया था। इसी तप के प्रभाव से वह महावीर हुए। इस चरम भव में भी भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष का घोर तप किया था।

भगवान् ने नौ बार चौमासी तप किया था-वह भी १२० दिन का चौविहार तप। एक छह मास का तप किया था और एक तेरह बोल युक्त छहमास का अभिग्रह-तप किया था। इन अभिग्रहों के पूरा होने का वर्णन किया तो मालूम होगा कि जैन संघ में कैसी-कैसी महान् शक्तियों ने जन्म लिया था। भगवान् महावीर ने ऐसे कठिन अभिग्रह किये तो देवी चन्दनबाला मिली ही। किसकी प्रशंसा की जाय भगवान् महावीर की या देवी चन्दनबाला की? आज तो लोग यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि धर्म करने से चन्दनबाला पर ऐसे कष्ट आये, मगर चन्दनबाला ने कष्ट न झेले होते तो महावीर जैसे तपस्वी के पवित्र चरण उसके यहाँ कैसे पड़ते?

भगवान् महावीर का तप तो पाँच मास, पच्चीस दिन तक चला था, लेकिन चन्दनबाला ने तो तेला ही किया था। फिर भी चन्दनबाला के तेले की शक्ति ने भगवान् महावीर को खींच लिया। भगवान् दीर्घतपस्वी थे। पाँच मास, पच्चीस दिन तक उपवास करना उनके लिए बहुत बड़ी बात न थी, मगर चन्दनबाला राजकुमारी थी। राजकन्या होकर बिक जाना, अपने ऊपर आरोप लगने देना, सिर मुंडवाना, प्रहार

सहन करना, क्या साधारण बात है ? तिस पर उसके हथकड़ी बेड़ी डाली गई और वह भौंयरे में बंद करदी गई। फिर भी धन्य है चंदनबाला महासती को, जो मुस्कराती ही रही और अपना मन मैला न होने दिया।

भगवान् ने अन्यान्य मार्गों के विद्यमान रहने पर भी तप का ही मार्ग ग्रहण किया, अतएव हमें भी यह मार्ग नहीं त्यागना चाहिए। परिस्थिति कैसी भी हो, अगर क्षमा के साथ तप किया जाय तो अवश्य ही कल्याण होगा।

भगवान् महावीर सदृश महान् तपस्वी के प्रधान शिष्य गौतम तपस्वी न हों, यह कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि गौतम स्वामी भी घोर तप के धारक थे। साधारण मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता, उसे उग्र कहते हैं। इस प्रकार के तप को उग्र तप कहते हैं। गौतम स्वामी ऐसे उग्र तप से सुशोभित हैं, कि साधारण पुरुष जिसके स्वरूप का चिंतन भी नहीं कर सकते।

भगवान् गौतम में उग्र के साथ दीप्त तप भी है। दीप्त का अर्थ है—जाज्वल्यमान। अग्नि की तरह जाज्वल्यमान तप को दीप्त तप कहते हैं। गौतम स्वामी का जाज्वल्यमान तप, कर्म रूपी गहन वन को भस्म करने में समर्थ है, अतएव उन का तप दीप्त कहलाता है।

भगवान् गौतम दीप्त तप के साथ ही तप्त तप के भी धारक हैं। जिस तप से कर्मों को संताप उत्पन्न हो, कर्म ठहर न सकें उसे तप्त तप कहते हैं। अथवा गौतम स्वामी ने अपने आपको आराम में न रख कर, अपने शरीर को तप करते

अग्नि में डाल दिया, इस कारण वह तप्त-तपस्वी हैं। अपने आपको तप की अग्नि में डालने से यह लाभ हुआ कि जैसे अग्नि को कोई हाथ नहीं लगाता उसी प्रकार तप की अग्नि में पड़े हुए आत्मा को पाप या कर्म स्पर्श नहीं कर सकता।

गौतम स्वामी महातपस्वी हैं। किसी कामना से अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति, वैरी-विनाश या लब्धिलाभ आदि की आशा से किया जाने वाला तप महातप नहीं कहला सकता। गौतम स्वामी का तप महातप है, क्योंकि वह निष्काम भावना से किया गया है। उन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं थी। यह गौतम स्वामी के तप का वर्णन हुआ।

तपो-वर्णन के पश्चात् कहा गया है कि गौतम स्वामी 'ओराले' हैं। 'ओराले' का अर्थ है भीम; अर्थात् गौतम स्वामी का तप भय उत्पन्न करता है। उनका तप पार्श्वस्थ (पासत्थ) लोगों को, जिन्हें ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रुचि नहीं है, जिनके ज्ञान आदि मंद हैं, जिन्हें इन पर श्रद्धा नहीं है, भय उत्पन्न करने वाला है।

गौतम स्वामी का तप पासत्थों के लिए भयंकर है, यह गौतम का गुण समझा जाय या अवगुण? गौतम स्वामी सब को निर्भय बनाने वाले हैं, प्राणी मात्र को अभयदान देने वाले हैं, फिर उनके तप से किसी को भय क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण से समझना ठीक होगा। मान लीजिए एक चोर चोरी करने गया। वहाँ राजा या कोई राजकर्मचारी मिल गया, जिससे डर गया। यह डर राजा या राजकर्मचारी से उद्भूत हुआ है या चोर के पास से पैदा हुआ है? वास्तव में इस भय के लिए राजा या

राजकर्मचारी उत्तरदायी नहीं हैं, चोर का पाप ही उसे डरा रहा है। राजा या कर्मचारी ने उसे डराया नहीं है, उसका पाप ही उसे डरा रहा है; यद्यपि राजा या कर्मचारी उसमें निमित्त बन गया है। फिर भी यह राजा का गुण ही गिना जायगा कि पापी उससे डरते हैं। इसी प्रकार यद्यपि गौतम स्वामी पासत्थों को डराते नहीं हैं तथापि उनके तप को देख कर वे अपनी शिथिलता अनुभव करते हैं, और अपनी शिथिलता से आप ही डरते हैं। इस प्रकार गौतम स्वामी के तप को निमित्त बनाकर वे भयभीत होते हैं। यह गौतम स्वामी का अवगुण नहीं गिना जा सकता। सच्चे धर्मात्मा में ऐसा प्रभाव अवश्य होना चाहिए कि उसके विना कुछ कहे ही पापी लोग उससे काँपने लगें। ऐसा धर्मात्मा ही तेजस्वी कहलाता है।

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं— मैंने गौतम स्वामी के साथ विहार किया है। उनके तप के प्रभाव से शिथिलाचारी पासत्थे काँपने लगते थे। यह पासत्थे अपने पासत्थेपन के कारण ही भयभीत होते थे। अगर उनमें पासत्थापन न होता तो उन्हें गौतम स्वामी अतिशय प्रिय लगते। परन्तु पासत्थेपन के कारण उन्हें गौतम स्वामी उसी प्रकार प्रिय नहीं लगते जैसे चोरों को चांदनी प्रिय नहीं लगती पासत्थों को तप प्रिय नहीं है, अतएव वे गौतम से डरते हैं।

'ओराल' का अर्थ भीम या भयंकर है और उदार अर्थ भी है। उदार, प्रधान को कहते हैं। गौतम स्वामी प्रधान होने के कारण उदार कहलाते हैं।

गौतम स्वामी 'घोर' हैं अर्थात् दया या घृणा से रहित हैं। उन्हें परीषह रूपी शत्रुओं को नाश करने में दया नहीं है।

परीषह-शत्रु को जीतने में वह दया नहीं दिखलाते। अथवा-इन्द्रियों पर और विषय-कषाय पर वे कभी दया नहीं करते। इस अपेक्षा से गौतम स्वामी को 'घोर' कहा है।

दुर्गुणों पर और विशेषतः अपने ही दुर्गुणों पर दया दिखाने से हानि ही होती है। इसलिए इन्द्रियों को और दुर्गुणों को उन्होंने निर्दय होकर जीत लिया है। विजय वीरता से प्राप्त होती है। लौकिक युद्ध की अपेक्षा लोकोत्तर-आत्मिक युद्ध में अधिक वीरता अपेक्षित है। गौतम स्वामी ने आन्तरिक रिपुओं को-काम, क्रोध आदि को वीरता के साथ, निर्दय होकर जीता था।

दूसरे आचार्यों ने 'घोर' का अर्थ यह किया कि गौतम स्वामी आत्मा की अपेक्षा-रहित हैं अर्थात् वे आत्मा की ओर से निस्पृह हैं। उन्हें अपने प्रति तनिक भी ममता नहीं है, अतएव उन्हें 'घोर' कहा गया है।

गौतम स्वामी घोर गुण वाले हैं। उनके मूल गुण ऐसे हैं कि दूसरा कोई नहीं पाल सकता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता रूप पाचों महाव्रतों का वे इस इस प्रकार पालन करते हैं कि इस प्रकार से पालन करना दूसरों के लिए कठिन है।

गौतम स्वामी का तप, मूल गुणों के साथ ही साथ लगा है। मूल गुण अहिंसा का जितने प्रशस्त रूप में पालन होगा, तप भी वैसा ही प्रशस्त होगा। बिना अहिंसा के तप नहीं होता। सत्य भी जितना घोर होगा, तप भी उतना ही घोर

होगा। गौतम स्वामी में यह समस्त गुण तप के साथ हैं इसलिए उन्हें 'घोरगुण कहा है।

गौतम स्वामी घोर ब्रह्मचारी हैं। ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम तप है। गौतम स्वामी के गुणों और व्रतों के वर्णन में यद्यपि ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है तथापि ब्रह्मचर्य की महत्ता प्रकट करने के लिए उसका अलग उल्लेख किया है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या लम्बी है, लेकिन ब्रह्मचर्य का संक्षिप्त अर्थ है—इन्द्रिय और मन पर पूर्ण रूप से आधिपत्य स्थापित करना। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों पर और मन पर आधिपत्य जमा लेगा वह आत्मा में ही रमण करेगा, बाहर नहीं। गौतम स्वामी का ब्रह्मचर्य घोर है। वे ब्रह्मचर्य का इतनी दृढ़ता से पालन करते हैं कि और लोग उनके ब्रह्मचर्य की बात सुनकर ही काँप जाते हैं। इसलिये उनका ब्रह्मचर्य घोर है।

गौतम स्वामी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, यह कैसे प्रज्ञात हुआ? इसका उत्तर यह है कि गौतम स्वामी इस प्रकार रहते हैं मानों उन्हों ने शरीर को फैंक दिया हो। शरीर की उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं रहती। उसकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। इस प्रकार रहन-सहन के कारण उन्हें 'उच्छूढ़ शरीर' कहा है। जो शारीरिक सुखों की तरफ से सर्वथा निरपेक्ष हो जाता है—शरीर के सुख के प्रति उदासीन बन जाता है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। शरीर को सँवारने वाला, शरीर सम्बन्धी टीमटाम करने वाला ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।

एक गुण दूसरे गुण पर अवलम्बित रहता है। जिस का ब्रह्मचर्य गुण-भली भांति नहीं पलता है, उसके अन्यान्य मूल गुण भी स्थिर नहीं रह पाते। इस प्रकार मूल गुणों की स्थिरता के लिए जैसे ब्रह्मचर्य की अवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए शरीर-संस्कार के त्याग की परम आवश्यकता है। ऐसा किये विना ब्रह्मचर्य व्रत नहीं पल सकता। अगर किसी कंकर को भी सँवार कर, अच्छे कपड़े में लपेट कर रास्ते में डाल दिया जाय तो लोग उसे उठा लेंगे। इसके विपरीत अगर मूल्यवान् हीरे को मैले-कुचैले फटे चीथड़े में बाँधकर डाल दिया जाय तो उसे सहसा उठाने की कोई इच्छा न करेगा। यही शरीर की स्थिति है। शरीर का साज-सिंगार करके उसे सुन्दर वनाया जाय तो ब्रह्मचर्य टिक नहीं सकता। गौतम स्वामी शरीर में निवास करते हुए भी मानों शरीर से अतीत हैं। वे आत्मा में ही रमण करते हैं—शरीर को जैसे भूले हुए हैं।

ऐसा तप करने वाले और ऐसा ब्रह्मचर्य पालने वाले के लिए कोई भी लौकिक या लोकोत्तर लब्धि या शक्ति दूर नहीं है—समस्त शक्तियाँ उसकी मुट्ठी में रहती हैं। गौतम स्वामी की और लब्धियों का विचार न करके सिर्फ एक ही लब्धि का विचार कीजिए। उन्हें तेजोलेश्या नामक लब्धि प्राप्त हो गई थी।

गौतम स्वामी ने अपने में उत्पन्न हुई तेजोलेश्या को संक्षिप्त करके शरीर में लीन करली है। उनकी तेजोलेश्या लब्धि वाहर नहीं है। यद्यपि उनकी तेजोलेश्या है विपुल विस्तार वाली मगर उन्होंने संकुचित करके इतनी छोटी

बनाली है कि शरीर के बाहर नहीं निकलने देते। उनकी तेजोलेश्या का विस्तार इतना बड़ा है कि अगर उसे बाहर निकाल दिया जाय तो वह हजारों कोस में फैल कर चाहे जिसे भस्म कर डाले। इस तपोजनित लब्धि को गौतम स्वामी ने सिकोड़कर अपने ही शरीर में लीन कर लिया है।

अपनी विपुल शक्ति को दबा लेना और समय पर शत्रु पर भी उसका प्रयोग न करना बड़े से बड़ा काम है। शक्ति उत्पन्न होना महत्व की बात है मगर उसे पचा लेना और भी बड़ी बात है। महान् सत्वशाली पुरुष ही अपनी शक्ति को पचा पाते हैं। सामान्य मनुष्यों को तो अपनी साधारण-सी शक्ति का भी अजीर्ण हो जाता है।

कहा जा सकता है कि अगर शक्ति का उपयोग न किया जाय तो वह किस काम की? फिर तो उसका होना न होने के ही बराबर है। क्षत्रिय तलवार बाँधता है, लेकिन जब शत्रु सामने आया तब अगर तलवार न चलाई तो उसकी तलवार किस काम की? गौतम स्वामी में ऐसी लब्धि है कि हजारों कोस तक फैल कर वह चाहे जिसे भस्म कर सकती है, फिर भी अगर अपमान करने वाले को दंड न देसके तो वह लब्धि किस मर्ज़ की दवा है!

मैं पूछना चाहता हूँ कि क्षत्रिय की तलवार किस पर चलनी चाहिए?

'शत्रु पर!'

मित्र पर नहीं?

'जी नहीं'

मित्र पर तलवार चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है अथवा मित्र पर तलवार न चलाने से क्षत्रियत्व प्रकट होता है ?

'न चलाने पर।'

स्वार्थ से प्रेरित होकर अपने मित्र को मार डालने वाला क्षत्रिय, क्या वास्तव में क्षत्रिय कहला सकता है ?

'कदापि नहीं।'

क्षत्रिय के मित्र भी होते हैं और शत्रु भी होते हैं, इसलिए वह मित्रों को बचाता है और शत्रुओं को मारता है, लेकिन गौतम स्वामी का शत्रु कोई है ही नहीं, उनके सभी मित्र ही मित्र हैं। उनका सिद्धान्त है—

मित्ती मे सव्वभूएसु।

जब उनका कोई शत्रु नहीं है, सब मित्र ही मित्र है, तो वे तेजोलेश्या किस पर चलावे ?

गौतम स्वामी की प्राणीमात्र पर मित्रता की भावना है, यह इससे सिद्ध है कि उन्होंने तेजो लेश्या के होते हुए भी किसी पर उसका प्रयोग नहीं किया। आप कह सकते हैं कि जो अकारण ही ऊपर धूल फेंके उसे शत्रु समझना चाहिए, लेकिन जिसमें शत्रु-मित्र का भेदभाव हो वही धूल डालने वाले को शत्रु समझता है। गौतम स्वामी इस भेदभाव से परे होगये हैं, उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र का भेद नहीं है: वे समस्त जीवों को मित्र ही मित्र मानते हैं। सम्मान करने वाला और अपमान करने वाला-दोनों ही उनके आगे समान हैं।

सन्तों में क्षमा गुण की विशेषता पाई जाती है, इसीलिए वे वन्दनीय हैं। सम्मान के समय क्षमा की कसौटी नहीं होती। क्षमा की परीक्षा उसी समय होती है जब अप्रिय व्यवहार किया जाय, निन्दा की जाय, गुण होने पर भी दुर्गुणी बताया जाय। ऐसे अवसरों पर जिनके मन-महोदधि में किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, जिनके चेहरे पर सिकुड़न नहीं आती, जिनके नेत्र लाल होकर भौंहें तन नहीं जाती, वही पुरूषवर क्षमाशाली कहलाते हैं।

आप क्षमाशील को साधु मानते हैं, या थप्पड़ के बदले घूंसा मारने वाले को? 'क्षमाशील को।'

गौतम स्वामी उस पुरुष पर तो क्रोध करते ही क्यों जो उनका सत्कार करता है। रही अपमान करने वाले को सज़ा देने की बात। अगर वह अपमान करने वाले को अपनी तेज़ोलेश्या से भस्म कर देते तो क्या आप उन्हें मानते? क्या उनका इस प्रकार बखान करते? क्या वे हमारे लिए आदर्श होते? नहीं। उन्होंने अपनी तेजोलेश्या को इस प्रकार गोप रक्खा था कि उन्हें कोई कितना ही क्यों न सतावे, वे उसका प्रयोग नहीं करते थे। इस अपूर्व क्षमागुण के कारण ही गौतम स्वामी हमारे लिए वन्दनीय, पूजनीय हैं। दुष्टों पर क्षमाभाव रखकर उन्हें भी अपना मित्र मान लेना असाधारण सामर्थ्य का परिचायक है। यह सामर्थ्य देवों के सामर्थ्य से भी कहीं उत्तम है गौतम स्वामी के इस रूप का ध्यान करने से पापों का विनाश होगा।

गौतम स्वामी के शरीर, तप, लेश्या और क्षमा का वर्णन किया गया। अब यह देखना है कि उनमें ज्ञान की मात्रा

कितनी थी ? इस संबंध में सुधर्मा स्वामी कहते हैं—गौतम स्वामी चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता ही नहीं वरन उनके रचयिता थे। गौतम स्वामी श्रुत केवली थे। जो केवल ज्ञानी की तरह निस्संदेह वचन बोलता है वह श्रुत केवली कहलाता है।

गौतम स्वामी में मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान और मन, पर्यय ज्ञान हैं। अर्थात् केवल ज्ञान, को छोड़ कर शेष चार ज्ञानों के धारक हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यद्यपि गौतम स्वामी चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चार ज्ञानों के धनी थे, लेकिन सम्पूर्ण श्रुत में उनकी व्यापकता थी या नहीं ? क्योंकि चौदह पूर्वधारियों में भी कोई अनन्त गुण हीन और कोई अनन्त गुण अधिक होता है। चौदह पूर्वधारी भी संख्यात भाग हीन, असंख्यात भाग हीन, अनन्त भाग हीन, संख्यात गुण हीन असंख्यात गुण हीन, अनन्त गुण हीन होते हैं और संख्यात भाग अधिक, असंख्यात भाग अधिक, अनन्त भाग अधिक संख्यात गुण अधिक, असंख्यात गुण अधिक और अनन्त गुण अधिक भी होते हैं। इस तरमता में गौतम स्वामी का क्या स्थान था ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'सव्वक्खरसन्निवाई' विशेषण दिया गया है। सारे संसार का और तीनों कालों का साहित्य ५२ अक्षरों से ही लिखा जाता है। जितने वाच्य पदार्थ हैं उतने ही वचन हैं। गौतम स्वामी को इन सब वचनों का ज्ञान प्राप्त है। वह 'सर्वाक्षरसन्निपाती' हैं कोई भी अक्षर उनके ज्ञान से अज्ञान नहीं रहा है। वे सभी अक्षरों को जोड़ने वाले हैं।

अथवा-'सव्व' पद का 'श्राव्य' रूप भी बन जाता है। श्राव्य का अर्थ है सुनने योग्य। गौतम स्वामी की वचन-रचना श्रवण करने योग्य है, अतः वह श्राव्य-अक्षर-सन्निपाती हैं। उनके मुख से कटुक, कठोर या अप्रिय वचन निकलते ही नहीं हैं। उनके वचन अमृत के समान मधुर और जगत् का परम कल्याण करने वाले हैं।

इतने गुणों के धारक होने पर भी गौतम स्वामी गुरु की शरण में रहते थे? जो स्वयं ही संघ के गुरु होने योग्य हैं, उनका भी कोई गुरु है? इस संबंध में सुधर्मा स्वामी का कथन है कि गौतम स्वामी ऐसे गुण और ज्ञान के धारक होने पर भी अपने गुरु भगवान् महावीर की शरण में रहते थे। वे भगवान् का ऐसा विनय करते थे, मानों विनय के साक्षात् रूप ही हों। उनमें जो लब्धियाँ थीं वे अभिमान चढ़ाने या बढ़ाने के लिए नहीं थीं।

श्रीसुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि ऐसे गौतम स्वामी, भगवान् से न बहुत दूर, न बहुत समीप आत्मा को संयम-तप से भावित करते हुए विचर रहे हैं। उन्हें यह विचार ही नहीं है कि-'हम ऐसे ज्ञानी और गुणी हैं, इसलिए अलग रहकर अपना नाम फैलावें, क्योंकि यहाँ रहेंगे तो भगवान् के होते हमें कौन पूछेगा? जहाँ केवलज्ञानी विराजते हैं वहाँ दूसरा चाहे जितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो, उसकी पूछ नहीं होती। कैसा भी प्रकाशमान सर्च लाइट क्यों न हो, सूर्य की बराबरी नहीं कर सकता। गौतम स्वामी ने अपना अलग संघ बनाने का कभी विचार नहीं किया। वह इतने विनीत हैं कि भगवान् के चरण-कमलों के भ्रमर बने रहते हैं और तप एवं संयम की साधना करते हैं।

संयम और तप मोक्ष के प्रथम अंग हैं। संयम और तप में अन्तर यह है कि संयम नये कर्म नहीं बंधने देता और तप पुराने कर्मों का नाश करता है। जब नये कर्मों का बन्ध बंद हो जाता है और पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तो मुक्ति के अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है? इसी कारण गौतम स्वामी संयम और तप का आराधन करते हुए भगवान् के समीप विचर रहे हैं।

हमें सुधर्मा स्वामी का कृतज्ञ होना चाहिये जिन्होंने गौतम स्वामी जैसे महान् पुरूष के महान् गुणों का वर्णन करके हमारे सामने एक श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है। उन्होंने ऐसा न किया होता तो हम गौतम स्वामी का परिचय कैसे प्राप्त करते।

गौतम स्वामी के सद्‌गुणों को जानकर, हमें कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। हमारा कर्तव्य यह है कि उनके गुणों को जानकर, हममें जितनी भी शक्ति है वह सब दूसरे काम में न लगाकर ऐसे काम में लगावे जिससे गौतम स्वामी के गुणों की आराधना हो। गौतम स्वामी ने अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी भगवान् के शिष्य रहने में लघुता में ही महत्ता देखी। उन्हें अपनी गुरूता का ध्यान नहीं आया। अपनी गुरूता को भूलने में ही महान् गुरुता है। एक कवि ने कहा है—

पर कर मेरु समान, आप रहे रज-कण जिसा।
ते मानव धन जान, मृत्यु लोक में राजिया॥

राजिया कवि कहता है कि मनुष्लोक में धन्यवाद का पात्र वही है जो दूसरों को मेरु के समान उच्च बनाकर

लिए करें तो आप में दिखावटी बड़प्पन के बदले वास्तविक बड़प्पन प्रकट होगा। तब अपना बड़प्पन दिखाने के लिए आपको तनिक भी प्रयत्न न करना होगा; यही नहीं बल्कि आप उसे छिपाने की चेष्टा करेंगे। यह बड़प्पन इतना ठोस होगा कि उसके मिट जाने की भी आशंका न रहेगी। ऐसा बड़प्पन पाने के लिए महापुरुषों के चरित्र का अनुसरण करना चाहिए और जिन सद्गुण रूपी पुष्पों से उनका जीवन सौरभमय बना है उन्हीं पुष्पों से अपने जीवन को भी सुरभित बनाना चाहिए।

बाहरी दिखावट, ऊपरी टीमटाम और अभिमान, यह सब तुच्छता की सामग्री है। इससे महत्ता बढ़ती नहीं है, प्रत्युत पहले अगर आंशिक महत्ता हो तो वह भी नष्ट हो जाती है। तुच्छता के मार्ग पर चलकर महत्ता प्राप्त करने की आशा मत करो। विष पान करके कोई अजर-अमर नहीं बन सकता।

लोग दुकान सजाते हैं। दुकान सजाने का एक उद्देश्य यह है कि लोग भभके में आजावें और उन्हें ठगा जाय। क्या ऐसा करना अच्छा काम है? यह उद्देश्य प्रशस्त है? दुकान की सजावट के साथ अगर प्रमाणिकता हो तब तो ठीक है, मगर केवल चालबाज़ी के लिए सजाना कैसे ठीक कहा जा सकता है।

आज अधिकांश मनुष्य, राजा से रंक तक प्रायः इसी चालबाज़ी में पड़े हैं। सभी यह चाहते हैं कि हमारे दुर्गुण भले ही बने रहे मगर लोग हमारी प्रशंसा करें। मगर एक बार अपनी आत्मा से पूछो। सोचो—'हे आत्मन्! तू चाहता तो बड़ाई है, मगर अपने दुर्गुणों से आप ही पतित हो रहा है।'

अपने को आप भूल कर हैरान हो गया।
माया के जाल में फँसा वीरान हो गया॥

लोग चाहते क्या हैं और करते क्या हैं? वाहवाही चाहते हैं मगर थू-थू के काम करते हैं। यह देखते नहीं कि हमारे काम कैसे हैं? आज गांधीजी की वाह-वाही हो रही है तो क्या उन्होंने वाहवाही के लिए किसी प्रकार का ढोंग किया है? नहीं। उन्होंने काम ऐसे किये जिनसे उनकी वाह-वाह हो रही है। अगर आप ऐसे अच्छे काम नहीं कर सकते तो कम से कम झूठी वाह-वाह पाने की लालसा तो न रखिए।

कोई गोटा कोई किनारी पहनकर नखरा दिखावे भारी।
न हुकम रब का कोई माने खुदा की बातें खुदा ही जाने॥

हमारे यहाँ आत्मा ही खुदा है। जो खुद ही बना हो वह खुदा कहलाता है। क्या आत्मा स्वयं ही नहीं बना है? फिर क्या आत्मा की बातें आत्मा ही नहीं जानता? तुम्हारी बात तुमसे छिपी नहीं है। हे आत्मन्! तू नखरेबाजी से संसार को रिझाना चाहता है, लेकिन यह देख कि तेरे में परमात्मा की आज्ञा मानने की कितनी शक्ति है? जिस कार्य के करने से और अधिक पतन होता है, वह कार्य करने से क्या लाभ है?

मिल के जिन कपड़ों को पहनने से न आत्मा का लाभ है, न संसार का ही लाभ है, उन्हें पहनने में क्या लाभ है? आज्ञा परमात्मा के हुक्म को मानो तो क्या कोई हानि होगी? मिल के वस्त्र त्याग देने से क्या आत्मा का कल्याण न होगा?

और मिलके वस्त्र त्याग देने पर क्या कोई कष्ट होगा ? आप कह सकते हैं कि मोटे कपड़े गर्मी में कष्ट पहुँचाते हैं, मगर दूसरे सैकड़ों मनुष्य खादी के वस्त्र पहनते हैं सो क्या वह मनुष्य नहीं हैं ? सारी सुकुमारता क्या आपके ही हिस्से आई है ? और क्या आप गौतम स्वामी के शिष्य नहीं है ? गौतम स्वामी 'उच्छूढ सरीर' थे, भोगी शरीर वाले नहीं थे। आपके गुरू शरीर को भी त्याग दें और आप पाप को बढ़ाने वाले और संसार को रुलाने वाले कपड़े भी नहीं त्याग सकते ? अगर ऐसे कपड़े भी आप से नहीं छूट सकते तो आप 'उच्छूढसरीर' का पाठ कैसे पढ़ेंगे ? जिस सेना का नायक वीर हो उसके सैनिक कायर क्यों हों ?

गाढ़ा (खद्दर) पहनने से यदि आपको गर्मी होती है तो क्या संसार में आप से बढ़ कर अमीर नहीं हैं ? अगर हैं और वे गाढ़ा पहन कर देश की सेवा करते हैं तो क्या आप ऐसा नहीं कर सकते ? अगर आप धर्म को दिपाने वाली छोटी-छोटी बातों का भी पालन न कर सकेंगे तो बड़ी बातों का पालन करके कैसे धर्म दिपावेंगे ? मिल के कपड़े त्याज्य हैं, इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। अगर आप इन्हें भी नहीं छोड़ सकते तो धर्म के बड़े काम कैसे कर सकोगे ?

मिल के वस्त्रों की ही भाँति विदेशी वस्त्र और विदेशी औषधियाँ भी त्याज्य हैं। क्योंकि इनमें अक्सर मांस-मदिरा चर्बी आदि का मेल रहता है। अधिकांश एलोपैथिक दवाइयों में मांस के सत और ब्रांडी का मिश्रण रहता है।

मित्रो ! आप अपना जीवन त्यागमय बनाओ, जिससे

गौतम स्वामी का नाम लेने लायक बन सको। गौतम स्वामी का जीवन ऐसा त्यागमय और सरल था कि वेले-बेले पारणा करके भी स्वयं गोचरी लेने जाते और एक बालक जिधर ले जाता, उधर ही चले जाते थे। गांधीजी की सादगी का उदाहरण इसलिए दिया है कि गौतम स्वामी दूर हैं और गांधीजी समीप हैं। अन्यथा जैन साहित्य में ऐसे २ उदाहरण मौजूद हैं कि जिन की तपस्या के समान गांधीजी की कई एक तपस्याएँ भी नहीं हो सकती।

मित्रों! मिल के वस्त्र दूषित हैं। शरीर पर रहने से खराबी पैदा करते हैं। इसलिए इन्हें त्यागो। अगर आप विलायती और मिल के वस्त्र नहीं त्याग सकते तो कम से कम हम साधुओं को तो नहीं हो देना। हम केवल यही चाहते हैं कि किसी भी श्रावक के शरीर पर मिल के वस्त्र न दिखें।

बिना त्याग के जीवन शुद्ध नहीं बनता। त्याग सीखो और खान पान एवं रहन-सहन से अपने जीवन को शुद्ध बनाओ। इसी में तुम्हारा और संसार का कल्याण है।

भगवान् महावीर समवसरण में विराजमान हैं और गौतम स्वामी उनसे न ज्यादा दूर, न ज्यादा पास बैठे हैं। गौतम स्वामी किस आसन से बैठे हैं, यह भी सुधर्मा स्वामी ने बतलाया है। गौतम स्वामी के घुटने ऊपर को उठे हैं और सिर नीचे की ओर किंचित् झुका हुआ है। गो दुहने के समय जो आसन होता है उसी आसन से बैठे हुए गौतम स्वामी ध्यान रूपी कोठे में प्रविष्ट हैं।

अनाज अगर सुरक्षित स्थान में नहीं रक्खा जाता तो वह इधर-उधर बिखरा रहता है, जिससे खराब भी होता है

और उसका असली गुण भी कम हो जाता है। अतएव रक्षा की दृष्टि से अनाज मिट्टी की कोठियों में भर दिया जाता है। इससे वह बिखरा नहीं रहता और उसमें जीव जन्तु भी नहीं पड़ने पाते। वह सुरक्षित रहता है, जिससे कुटुम्ब का जीवन सुख से बीतता है।

लोक व्यवहार के इस दृष्टान्त को ध्यान में रखकर ही गौतम स्वामी के संबंध में यह कहा गया है कि वे ध्यानरूपी कोठे में तल्लीन हुए बैठे हैं। जैसे कोठे में नहीं भरा हुआ अनाज इधर-उधर बिखरा रहता है उसी प्रकार विना ध्यान के मन और इन्द्रियाँ इधर-उधर बिखरी रहती हैं, जिससे खराब होकर विपत्ति में पड़ जाती हैं। अतएव मन और इन्द्रियों को खींच कर ध्यान रूपी कोठों में बंद कर दिया जाता है। ऐसा करने से उनकी शक्ति सुरक्षित रहती है।

इन्द्रियों को और मन को एकाग्र करके उनका संगठन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान की व्याख्या करते हुए दार्शनिकों ने और योगशास्त्र ने यही बतलाया है कि चित्तवृत्ति का निरोध करना ध्यान है। जैसे बिखरी हुई सूर्य की किरणों से अग्नि उत्पन्न नहीं होती, परन्तु काच के बीच में रखने से किरणें एकत्र हो जाती हैं और उस काच के नीचे रुई रखने से आग उत्पन्न हो जाती है। अगर बीच में काच न हो तो किरणों से जो काम लेना चाहते हैं वह नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों को एकत्र करने से आत्म-ज्योति प्रकट होती है। ध्यान रूपी काच के द्वारा बिखरी हुई इन्द्रिय रूपी किरणें एकत्र हो जाती हैं और आत्म-ज्योति प्रकट होकर अपार और अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

मनुष्य जब सोता है तो इन्द्रियों से सोता है मगर मन से जागता रहता है। इन्द्रियाँ सोती रहती हैं अतः उनके द्वारा निकलने वाली मनकी शक्ति रुक जाती है। इस शक्ति के रुकने से स्वप्न आता है और स्वप्न में ऐसी बातें देखी सुनी जाती हैं, जो पहले देखी-सुनी नहीं हो, न जिनकी कल्पना ही की है। कभी-कभी पूर्वभव की बातें भी स्वप्न में दिखने लगती हैं, और कभी आगे होने वाली घटनाएँ दिखने लगती हैं।

शालिवाहन राजा के संबंध में एक कथा है। एक रात वह सो रहा था। उसने स्वप्न में देखा कि मैं कनकपुरपट्टन नामक नगर को गया हूँ। वहाँ के राजा की पुत्री हंसावली पर मैं मुग्ध हो गया हूँ और उसके साथ मेरा विवाह हो रहा है। विवाह होने के पश्चात् मैं उससे वार्त्तालाप करता हुआ विश्राम कर रहा हूँ।

राजा स्वप्न के इस आनन्द में इतना विभोर हो गया कि सवेरा होने पर भी नहीं उठा। लोग आश्चर्य करने लगे। अन्त में प्रधान ने जाकर उसे जगाया प्रधान के जगाने पर राजा जाग तो गया मगर उस पर बहुत रुष्ट हुआ। कहने लगा—'प्रधान! तुमने मेरा आनन्द भंग कर दिया है, इसलिए तुम वध के योग्य हो।

राजा तलवार लेकर मन्त्री को मारने के लिए उद्यत हुआ। मन्त्री चतुर था। उसने राजा से कहा—'मैं आपके अधीन हूँ। कहीं जाता नहीं हूँ। आप जब चाहें तभी मुझे मार सकते हैं। लेकिन मेरी एक प्रार्थना है। पहले मेरी प्रार्थना सुन लीजिए, फिर चाहें तो प्राण ले लीजिए। अगर आप मेरी

प्रार्थना सुनने से पहले ही मुझे मार डालेंगे तो आपको पश्चात्ताप होगा कि मन्त्री न जाने क्या कहना चाहता था !'

राजा ने मन्त्री की यह बात स्वीकार की। कहा–'बोलो क्या कहना चाहते हो ?'

मन्त्री ने कहा—'मैं अनुमान करता हूँ कि आप इस समय कोई स्वप्न देख रहे थे और इसी के सुख में तल्लीन हो रहे थे। मैंने आकर आपको जगा दिया और आपका सुख-स्वप्न भंग हो गया। यही बात है न ?'

राजा बोला—'हाँ, बात तो यही है।'

मन्त्री ने कहा—आप स्वप्न में जो सुख भोग रहे थे, वह सुख अगर आप मुझे सुनादें तो मैं जिम्मेदारी लेता हूँ कि मैं उसे प्रत्यक्ष कर दिखाऊँगा। स्वप्न का सुख तो क्षणिक था, थोड़ी देर बाद वह नष्ट होता ही। मगर मैं स्वप्न का वही सुख वास्तविक कर दिखाऊँगा।

राजा ने अपना स्वप्न मंत्री को कह सुनाया। अन्त में कहा—'सुख-समय में जगाकर तुमने मेरा सुख-भंग किया है। अब अपनी प्रतिज्ञा याद रखना।

मंत्री ने कहा—'इस सुख को प्रत्यक्ष कर दिखाना कौन बड़ी बात है ? कनकपुर पट्टन भी है और हंसावली नामक राजकुमारी भी वहाँ है। यह मुझे मालूम है। मैं हंसावली को आपसे अवश्य मिला दूंगा।

यह किस्सा है। इससे हमें प्रयोजन नहीं। इसका उल्लेख करने का आशय यह है कि स्वप्न में ऐसी बात देखी सुनी जाती है, जो कभी देखी सुनी नहीं है।

कई लोग कहते हैं—बैठे-बैठे स्वर्ग का हाल कैसे मालूम हो जाता है ? लेकिन उनसे पूछो-सोने पर इस प्रकार की बातें कैसे मालूम हो जाती हैं ? जैसे स्वप्न में अनदेखी और अनसुनी बातें मालूम हो जाती है, उसी प्रकार स्वर्ग का हाल भी मालूम हो जाता है।

क्षायिक गुण की तो बात ही क्या, क्षायोपशमिक गुण में भी इतनी शक्ति है कि जो बात कभी देखी नहीं वह भी देखने को मिल जाती हैं।

निद्रा में, जो सहज रीति से और थकावट से उत्पन्न होती है, इतनी शक्ति है तो पराक्रम और योग की शक्ति से इन्द्रिय-वृत्ति का निरोध कर ध्यान में एकाग्र होने से प्रकट होने वाले ज्ञान का कहना ही क्या है ? इसीलिए गौतम स्वामी इन्द्रिय और मन को इधर-उधर न जाने देकर ध्यान रूपी कोठे में लीन रखते हैं।

गौतम स्वामी को उस ध्यान में क्या लहर पैदा हुई, यह बात सुधर्मा स्वामी आगे चलकर बताएँगे।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी के ध्यान, विनय आदि का वर्णन क्यों सुनाया ? इसलिए कि जम्बू स्वामी को और आगे की परम्परा को शिक्षा देनी थी। जब सासू यह चाहती है कि मेरी बहू सुधर जाय और चिड़ाचिड़ न करना पड़े तो वह अपनी लड़की को ससुराल जाते समय शिक्षा देती है कि—बेटी, ऐसा काम करना कि सब तेरी और मेरी प्रशंसा करें। तू चाहे तो मुझे धन्यवाद दिला सकती है और तू चाहे तो धिक्कार भी दिला सकती है।

सासू कहती है बेटी से, मगर सुनती बहू भी है। सासू समझती है कि यदि बहू में थोड़ी भी बुद्धि होगी तो मैंने बेटी को लक्ष्य करके जो कहा है उसे बहू भी समझ जायगी। अगर बहू में इतनी भी बुद्धि न होगी तो किट-किट करने से क्या लाभ है? इससे तो क्लेश ही अधिक बढ़ेगा।

सासू अगर लड़की को ऐसी शिक्षा देगी तब तो बहू भी सुनकर, समझकर सुधरेगी। अगर उसने अपनी बेटी को उल्टा ही समझाया कि—'देख बेटी, सुसराल में ज्यादा काम करके तन मत तोड़ना। सास की बात मत सहना। सास ज्यादा कुछ कहे तो डटकर सामने हो जाना। हम लोग हलके कुल के नहीं है, न किसी से रुपया ही गिनाया है। उल्टा हमने दिया ही है। अगर न बने तो यहीं आ जाना। दामाद को यहीं बुलाकर दुकान करा दूंगी।' बेटी को ऐसी शिक्षा देने से क्या बहू न समझेगी? वह भी यही सोचेगी कि ननद उस घर की बहू है तो मैं इस घर की बहू हूँ। जो बात उसके लिए कही गई है वही मेरे लिए भी है।

इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को गौतम स्वामी की बात सुना रहे हैं। सुधर्मा स्वामी को शिष्य-परम्परा सुधारनी है, इसी उद्देश्य से वह गौतम स्वामी के विनय आदि की बात सुना रहे हैं, जिससे जम्बू स्वामी यह समझ लें कि गौतम स्वामी के गुरु भगवान महावीर हैं और वे भगवान् का इतना विनय करते हैं तो मुझे भी अपने गुरु का इतना ही विनय करना चाहिए। जब गौतम जैसे महान् पुरुष, जो तपस्वी हैं, संघ के नायक हैं, अनेक ऋद्धियों के धारक हैं और देवता भी जिन्हें नमस्कार करते हैं, वे भी

अपने गुरु का विनय करते हैं तो हम उन के सामने किस गणना में हैं ?

सुधर्मा स्वामी के कथन से जम्बू स्वामी तो समझ ही चुके थे, फिर यह वर्णन शास्त्र में क्यों लिखा गया है ? इसे लिपिबद्ध करने का उद्देश्य है—संघ के हित पर दृष्टि रखकर उसकी सुन्दर परम्परा को कायम रखना। यह वर्णन इसलिए किया गया है कि जिस तरह गौतम स्वामी ने भगवान् से और जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से विनय पूर्वक प्रश्न किये थे, उसी प्रकार प्रश्न करना चाहिए।

श्रावक को अगर अपने गुरु के समक्ष प्रश्न करना हो तो किस प्रकार करना चाहिए ? क्या श्रावक लट्ठ की तरह जाकर प्रश्न करे ? अनेक श्रावक वन्दना-नमस्कार किये विना ही, विनय की पर्वाह किये विना ही और उचित अवसर है या नहीं, यह देखे विना ही प्रश्न करने लगते हैं। अन्यतीर्थी लोग जब तक शिष्यत्व स्वीकार न करें तब तक भले ही विनय न करें, मगर आप तो श्रावक हैं। आपको तो विनय और नम्रता के विना प्रश्न करना ही न चाहिए। अगर आप विनय के विना प्रश्न करेंगे और साधु उत्तर भी दे देंगे, तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि विनय के विना ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

प्रेम और भक्ति की विद्यमानता में ही उपदेश लाभप्रद हो सकता है। फोटोग्राफर वैसा ही फोटो उतारता है जैसे आप बैठे होते हैं। इसीलिए लोग अच्छे दिखने के उद्देश्य से माँगकर भी गहने—कपड़े पहन लेते हैं। सुना गया है कि कई फोटोग्राफर नकली कड़े-कंठे रख छोड़ते हैं।

जब छोटे से काम में भी इतनी ठसक रखते हो तो जहाँ हृदय में शास्त्र का फोटो लेना है वहाँ लापरवाही करने से कैसे काम चलेगा ? वैद्य से दवा लेनी है तो उसके नियमों का पालन करना पड़ेगा। वैद्य की दवा कदाचित् इस शरीर के रोग को मिटावेगी, लेकिन शास्त्रश्रवण तो भव-परम्परा के रोग मिटाता है ? फिर वैद्य से दवा लेने के समय विनीत आचरण करो और शास्त्रश्रवण के समय अविनय सेवन करो, तो क्या यह उचित कहलाएगा ?

ख़्याल आता है मुझे दिलजान तेरी बात का।
खबर तुझको है नहीं आगे अँधेरी रात का॥
जोबन तो कल ढल जायगा दरियाव है बरसात का।
बीर कोई न खायगा उस रोज तेरे हाथ का॥

दिलजान का अर्थ है—दिल से बँधा हुआ। दिलजान कह देना और बात है और दिलजान का-सा वर्त्ताव करना और बात है। दुनिया में धनजान, मकानजान, और रोटीजान भी हैं। जो धन दे वह धनजान, जो रोटी दे वह रोटीजान और जो मकान दे वह मकान जान। इस प्रकार कई तरह की मैत्री होती है लेकिन दिलजान का दोस्ताना निराला ही है।

दिल परमात्मा का घर है परमात्मा जब मिलेगा तब दिल में ही, अगर दिल में न मिला तो फिर कहीं नहीं मिलेगा। जो दिलजान बन जाता है उसे हर घड़ी खौफ़ रहता है कि कहीं मेरे दिलजान का दिल न दुख जावे ? लोग खुशामद के मारे, अच्छा खाने को मिलने से दिलजान कहते हैं, लेकिन

ईश्वरीय विश्वास पर जो दिलजान बनाता है वह इसलिए कि दिल परमात्मा का घर है। वह यह बात भली भाँति समझ लेता है कि किसी का दिल दुखाना ईश्वर को दुखाना है। इसी का नाम दया या अहिंसा है। दूसरे के दिल को रंज पहुंचाना ईश्वर को रंज पहुँचाना है।

यह आदर्श है। कोई इस आदर्श पर चाहे पहुंच न सके मगर आदर्श यही रहेगा। आदर्श उच्च, महान् और परिपूर्ण ही होना चाहिए। अगर आदर्श ही गिरा हुआ होगा तो व्यवहार कैसे अच्छा होगा?

पूरे सन्त वही हैं जो किसी का दिल नहीं दुखाते। किसी का दिल दुख जाय तो वह अपने आपको ईश्वर के सामने अपराधी मानते हैं।

कहा जा सकता है संतों की बात जुदी है, मगर गृहस्थ के सिर पर सैकड़ों उत्तरदायित्व हैं। उसे लेन-देन करना पड़ता है और दावा-झगड़ा भी करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में किसी का दिल दुखाये बिना काम कैसे चल सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब आपका दिल ही ऐसा बन जायगा कि मुझसे किसी का दिल न दुखे, मुझे किसी का दिल नहीं दुखाना है तो, आपके सामने रगड़े-झगड़े आवेंगे ही नहीं। सिंह और सर्प भी अहिंसावादी का कुछ नहीं बिगाड़ सकते। कदाचित् तुम्हारे सामने ऐसा मौका आवे भी तो कम से कम इतना करो कि दूसरे का हक छीनने के लिए उसका दिल न दुखाओ। अपने हक को लेने में दूसरे का दिल दुखाना उतना पाप नहीं है, जितना पाप दूसरे का हक छीनने के लिए दिल दुखाने में

है। अधिकांश लोग दूसरे का हक़ छीनने के लिए उसका दिल दुखाते हैं। दूसरे का हक़ हड़प जाना और दूसरे का हक़ देना नहीं, यह भावना संसार में फैल रही है, इसी कारण संसार अशान्ति का अड्डा बना हुआ है।

मित्रों! अपने जीवन को उन्नत बनाना हो तो गौतम स्वामी के गुणों का चिन्तन-मनन करके उन्हें अपने जीवन में अधिक से अधिक मात्रा में चरितार्थ करने की चेष्टा करो। इसी में आपका कल्याण है।

प्रश्नोत्थान।

मूल—तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे, जायसंसए, जायकोऊहल्ले, उप्पराणसड्ढे, उप्पराणसंसए, उप्पराणकोऊहल्ले; संजायसड्ढे, संजायसंसए, संजायकोऊहल्ले; समुप्पराणसड्ढे, समुप्पराणसंसए, समुप्पराणकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, वंदइ, नमंसइ। नमंसित्ता णचासराणे णाइदूरे सुस्सूसमाणे, नमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी। (२)

संस्कृत-छाया-तदा स भगवान् गौतमो जातश्रद्धः, जातसंशयः, जातकुतूहलः, उत्पन्नश्रद्धः, उत्पन्नसंशयः, उत्पन्नकुतूहलः, संजातश्रद्धः, संजातसंशयः, संजातकुतूहलः, समुत्पन्नश्रद्धः, समुत्पन्नसंशयः, समुत्पन्नकुतूहलः, उत्थया उत्तिष्ठति। उत्थया उत्थाय येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वः आदक्षिणप्रदक्षिणं करोति, कृत्वा वन्दते, नमस्यति, नमस्यित्वा नात्यासन्नः, नातिदूरः, शुश्रूषमाणः, नमस्यन् अभिमुखो विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपासीन एवमवादीत्। (३)

मूलार्थ-तत्पश्चात् जातश्रद्ध-प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले, जातसंशय, जातकुतूहल, संजातश्रद्ध, संजातसंशय, संजातकुतूहल, समुत्पन्न श्रद्धा वाले समुत्पन्न संशय वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से उठते हैं। उत्थान से उठकर जिस ओर श्रमण भगवान् महावीर हैं उस ओर आते हैं। आ करके श्रमण भगवान् महावीर को तीन वार दक्षिण दिशा से आरंभ करके प्रदक्षिणा करते हैं। प्रदक्षिणा करके वंदन करते हैं, नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके न बहुत पास, न बहुत दूर भगवान् के सामने विनय से ललाट पर हाथ जोड़ कर भगवान् के वचन सुनने की इच्छा करते हुए भगवान् को नमस्कार करते और उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले। (३)

व्याख्या—श्रीसुधर्मा स्वामी ने गौतम स्वामी के गुणों का वर्णन किया। अब भगवती सूत्र में वर्णित प्रश्नोत्तर किस जिज्ञासा से हुए हैं, यह वर्णन प्रारंभ से है। सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी को सुनाने लगे। उन्होंने कहा-हे जम्बू! जब गौतम स्वामी ध्यान रूपी कोठे में विचरते थे उस समय उनके मन में एक श्रद्धा उत्पन्न हुई।

'जायसड्ढे' अर्थात् जातश्रद्धः। 'जात' का अर्थ प्रवृत्त और उत्पन्न दोनों हो सकते हैं। यहाँ 'जात' का अर्थ प्रवृत्त है। अर्थात् श्रद्धा में प्रवृत्ति हुई।

जात का अर्थ प्रवृत्त हुआ। रहा श्रद्धा का अर्थ। विश्वास करना श्रद्धा कहलाता है लेकिन यहाँ श्रद्धा का अर्थ इच्छा है। तात्पर्य यह हुआ कि गौतम स्वामी की प्रवृत्ति इच्छा में हुई। किस प्रकार की इच्छा में प्रवृति? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है कि जिन तत्वों का वर्णन किया जायगा, उन्हें जानने की इच्छा में गौतम स्वामी की प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार तत्व जानने की इच्छा में जिसकी प्रवृत्ति हो उसे 'जातश्रद्ध' कहते हैं।

जातसंशय अर्थात् संशय में प्रवृत्ति हुई। यहां इच्छा की प्रवृत्ति का कारण बतलाया गया है। गौतम स्वामी की इच्छा में प्रवृत्ति होने का कारण यह था कि उनकी संशय में प्रवृत्ति हुई, क्योंकि संशय होने से जानने की इच्छा होती है। जो ज्ञान निश्चयात्मक न हो, जिसमें परस्पर विरोधी अनेक बातें मालूम पड़ते हों वह संशय कहलाता है। यथा—'यह रस्सी है या सर्प है?' इस प्रकार का संशय होने पर उसे निवारण करने के लिए यथार्थता जानने की इच्छा उत्पन्न

होती है। गौतम स्वामी को तत्व-विषयक इच्छा हुई क्योंकि उन्हें संशय हुआ था।

संशय दो प्रकार का होता है। एक संशय, श्रद्धा का दूषण माना जाता है और दूसरा श्रद्धा का भूषण समझा जाता है। इसी कारण शास्त्रों में संशय के सम्बन्ध में दो प्रकार की बातें कही गई। एक जगह कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

अर्थात्—शंकाशील पुरुष नाश को प्राप्त होता है।

दूसरी जगह कहा है—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—संशय उत्पन्न हुए बिना—संशय किये बिना मनुष्य को कल्याण मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता।

तात्पर्य यह है कि एक संशय आत्मा का घातक होता है और दूसरा संशय आत्मा का रक्षक होता है। गौतम स्वामी को कौनसा संशय उत्पन्न हुआ?

इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि जो वस्तु-तत्त्व पहले निश्चित नहीं था उसके संबंध में गौतम स्वामी को संशय उत्पन्न हुआ। गौतम स्वामी का यह संशय अपूर्व ज्ञान-ग्रहण का कारण होने से आत्मा का घातक नहीं है।

भगवान् गौतम स्वामी को किस वस्तु-तत्त्व के जानने के संबंध में संशय हुआ? इसके लिए टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि—भगवान् महावीर का सिद्धान्त यह है कि—

चलमाणे चालिए।

अर्थात्—जो चल रहा है वह चला।

सूत्रार्थ में चलने वाले को चला कहा, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो चलता है वही चला। जैसे एक आदमी कलकत्ता के लिए चला। इस चलते हुए को 'गया' कहना यह एक अर्थ का बोधक है।

'चलता है' यह कथन वर्त्तमान का बोधक है और 'चला' यह भूतकाल या अतीत काल का बोधक है। 'चलता है' यह वर्त्तमान की बात है और 'चला' यह भूतकाल की बात है। अतएव संशय पैदा होता है कि जो बात वर्त्तमान की है, वह भूतकाल की कैसे कह दी गई? शास्त्रीय दृष्टि से इस विरोधी काल के कथन को एक ही काल में बतलाने से दोष आता है। ऐसी दशा में यह कथन निर्दोष किस प्रकार कहा जा सकता है?

जमाली संशय से ही भ्रष्ट हुआ था और गौतम स्वामी संशय से ही ज्ञानी हुए थे। जमाली के सम्बन्ध में 'संशयात्मा विनश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ और गौतम स्वामी के विषय में 'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' यह कथन चरितार्थ हुआ।

जो संशय निर्णयात्मक होता है अर्थात् जिसके गर्भ में निर्णय का प्रयोजन होता है वह लाभदाता है; और जो संशय निर्णय के लिए नहीं, अपितु हठ के लिए होता है वह नाश करने वाला होता है। जमाली का संशय हठ के लिए था

निर्णय के लिए नहीं, इस कारण वह पतित हो गया। इससे विरुद्ध गौतम स्वामी का संशय निर्णय करने की बुद्धि से, वस्तु तत्त्व को बारीकी से समझने के प्रयोजन से था, उसमें हठ के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए गौतम स्वामी का आत्मा शुद्ध और ज्ञानयुक्त हो गया।

'जायकोउहले' अर्थात् जातकुतूहलः। गौतम स्वामी को कौतूहल उत्पन्न हुआ अर्थात् उनके हृदय में उत्सुकता उत्पन्न हुई। उत्सुकता यह कि मैं भगवान् से प्रश्न करूँगा, तब भगवान् मुझे अपूर्व वस्तु-तत्त्व समझावेंगे, उस समय भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए अमृतमय वचन श्रवण करने में कितना आनन्द होगा? ऐसा विचार करके गौतम स्वामी को कौतूहल हुआ।

गौतम स्वामी का संशय दोषमय नहीं है, क्योंकि उन्हें अकेला संशय नहीं हुआ, वरन् पहले श्रद्धा हुई, फिर संशय हुआ, फिर कौतूहल भी हुआ। अतः उनका संशय आनन्द का विषय है। श्रद्धा पूर्वक की हुई शंका दोषास्पद नहीं है, वरन् अश्रद्धा के साथ की जाने वाली शंका दोष का कारण होती है। यहाँ तक जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोउहले, इन तीनों पदों की व्याख्या की गई। इससे आगे कहा गया है-'उप्पन्नसड्ढे, उप्पन्नसंसए और उप्पण्णकोउहले।' अर्थात् श्रद्धा उत्पन्न हुई, संशय उत्पन्न हुआ और कौतूहल हुआ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'जायसड्ढे' और 'उप्पण्णसड्ढे' में क्या अन्तर है? यह दो विशेषण अलग-अलग क्यों कहे गये हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा जब

उत्पन्न हुई तब वह प्रवृत्त भी हुई। जो श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई उसकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

इस कथन में यह तर्क किया जा सकता है कि श्रद्धा में जब प्रवृत्ति होती है तब यह बात स्वयं प्रतीत हो जाती है कि श्रद्धा उत्पन्न हुई है। यानी श्रद्धा प्रवृत्त हुई है तो उत्पन्न हो ही गई है। फिर प्रवृत्ति और उत्पत्ति को अलग-अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? उदाहरण के लिए- एक बालक चल रहा है। चलते हुए उस बालक को देखकर यह तो आप ही समझ में आ जाता है कि बालक उत्पन्न हो चुका है। उत्पन्न न हुआ होता तो चलता ही कैसे? इसी प्रकार गौतम स्वामी की प्रवृत्ति श्रद्धा में हुई, इसी से यह बात समझ में आ जाती है कि उनमें श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। फिर श्रद्धा की प्रवृत्ति बतलाने के पश्चात् उसकी उत्पत्ति बतलाने की क्या आवश्यकता है?

इस तर्क का उत्तर यह है कि प्रवृत्ति और उत्पत्ति में कार्यकारणभाव प्रदर्शित करने के लिए दोनों पद पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। कोई प्रश्न करे कि श्रद्धा में प्रवृत्ति क्यों हुई? तो इसका यह उत्तर होगा कि, श्रद्धा उत्पन्न हुई थी।

कार्य- कारण भाव बतलाने से कथन में संगतता आती है, सुन्दरता आती है और शिष्य की बुद्धि में विशदता आती है। कार्य-कारण भाव प्रदर्शित करने से वाक्य आलंकारिक भी बन जाता है।

सादी और अलंकारयुक्त भाषा में अन्तर है। अलंकार-मय भाषा उत्तम मानी जाती है, अतएव कार्य-कारण भाव

दिखलाना भाषा का दूषण नहीं है, भूषण है। इस समाधान को साक्षी पूर्वक स्पष्ट करने के लिए आचार्य साहित्य-शास्त्र का प्रमाण देते हैं कि—

प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम् ।

अर्थात्-जिस में दीपकों की प्रवृत्ति हुई है, सूर्य की प्रवृत्ति नहीं है, ऐसी चन्द्रमा के प्रकाश वाली रात्रि समझी।

इस कथन में भी कार्य-कारणभाव की घटना हुई है। 'प्रवृत्तदीपाम्' कहने से 'अप्रवृत्तभास्करां' का बोध हो ही जाता है, क्योंकि सूर्य की प्रवृत्ति होने पर दीपक नहीं जलाये जाते। अतः जब दीपक जलाये गये हैं तो सूर्य प्रवृत्त नहीं है, यह जानना स्वभाविक है, फिर भी यहाँ सूर्य की प्रवृत्ति का अभाव अलग कहा गया है। यह कार्य-कारणभाव बतलाने के लिए ही है। कार्य-कारणभाव यह कि सूर्य नहीं है अतः दीपक जलाये गये हैं।

आचार्य कहते हैं कि जैसे यहाँ कार्य-कारणभाव प्रदर्शित करने के लिए अलग दो पदों का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार शास्त्र में भी कार्य-कारणभाव दिखाने के लिए ही 'जायसड्ढे' और 'उप्पण्णसड्ढे' इन दो पदों का अलग प्रयोग किया है। श्रद्धा में प्रवृत्ति होने से यह अवश्य जान गये कि श्रद्धा उत्पन्न हुई लेकिन वाक्यालंकार के लिए जैसे उक्त वाक्य में 'सूर्य नहीं है' यह दुबारा कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ 'श्रद्धा उत्पन्न हुई' यह कथन किया गया है।

'जायसड्ढे' और 'उप्पण्णसड्ढे' की ही तरह 'जायसंसए' और 'उप्पण्णसंसए' तथा 'जायकुऊहले' और 'उप्पण्णकुऊहले' पदों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इन छह पदों के पश्चात् कहा है-संजायसड्ढे, संजायसंसए, संजायकोउहले, और समुप्पएणसड्ढे, समुप्पएणसंसए और समुप्पएणकुऊहले । इस प्रकार छह पद और कहे गये हैं ।

अर्वाचीन ग्रन्थों में और प्राचीन शास्त्रों में शैली सम्बन्धी बहुत अन्तर है । प्राचीन ऋषि पुनरुक्ति का इतना खयाल नहीं करते थे जितना संसार के कल्याण का खयाल करते थे । उन्हों ने जिस रीति से संसार की भलाई अधिक देखी उसी रीति को अपनाया और उसी के अनुसार कथन किया । यह बात जैन शास्त्रों के लिए ही लागू नहीं होती, वरन् सभी प्राचीन शास्त्रों के लिए लागू है । गीता में अर्जुन को बोध देने के लिए एक ही बात विभिन्न शब्दों द्वारा दोहराई गई है । एक सीधे-सादे उदाहरण पर विचार करने से यह बात समझ में आ जायगी । किसी का लड़का जोखिम लेकर, परदेश जाता हो तो उसे घर में भी सावधान रहने के लिए चेतावनी दी जाती है, घर से बाहर भी चेताया जाता है, कि सावधान रहना और अन्तिम बार विदा देते समय भी चेतावनी दी जाती है । एक ही बात बार-बार कहना पुनरुक्ति ही है, लेकिन पिता होने के नाते मनुष्य अपने पुत्र को बार-बार समझाता है । यही पिता-पुत्र का सम्बन्ध सामने रखकर महापुरुषों ने शिक्षा की लाभप्रद बातों को बार-बार दोहराया है । ऐसा करने में कोई हानि नहीं है, वरन् लाभ ही होता है ।

गौतम स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के धनी थे । फिर भी उन्हें 'चलमाणे चलिए' के साधारण सिद्धान्त पर

संशय और कुतूहल हुआ! यह एक तर्क है। इस तर्क का समाधान स्वयं टीकाकार ने आगे किया है, किन्तु थोड़े-से शब्दों में यहाँ भी स्पष्टीकरण किया जाता है।

गुरु और शिष्य के संबंध से सूत्र की निष्पत्ति होती है। श्रोता और वक्ता दोनों ही योग्य हों तभी बात ठीक बैठती है। भगवान् महावीर सरीखे वक्ता और गौतम स्वामी जैसे श्रोता, खोजने पर भी अन्यत्र न मिलेंगे। ऐसा होने पर भी गौतम स्वामी ने वही बात पूछी, जो सब की समझ में आजाय। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तरों में यही विशेषता है। साधारण से साधारण जिज्ञासु भी इन बातों को समझ जाय, वह उलझन में न पड़े, इसी उद्देश्य से गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किये और भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त बना दिया।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी-दोनों ही इतनी उच्च श्रेणी के ज्ञानी थे कि उन्हें अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं थी। उनका एक मात्र ध्येय संसार का कल्याण था। इसी ध्येय को समझ रखकर गौतम स्वामी ने प्रश्न किये और जैसे प्रश्न किये गये, वैसे ही उत्तर भी दिये गये।

कल्पना कीजिए, एक प्रधान न्यायाधीश है। उस के सामने बहस करने वाला एक बॉरिस्टर है। एक साधारण व्यक्ति का, साधारण-सा मामला है। यद्यपि मामला छोटा और साधारण व्यक्ति का है और निर्णय न्यायाधीश करेगा, परन्तु बॉरिस्टर इसलिए खड़ा किया गया है कि उसकी सहायता के बिना साधारण व्यक्ति अपने भाव न्यायाधीश

को नहीं समझा सकता। इसी कारण बॉरिस्टर उसकी ओर से बहस करता है। लेकिन बॉरिस्टर की बहस और न्यायाधीश का निर्णय है किसके लिए? उस साधारण व्यक्ति के लिए।

बहस करने वाला बॉरिस्टर केवल तत्त्व की ही बात नहीं करेगा, किन्तु मुक़द्दमे से सम्बन्ध रखने वाली छोटी-छोटी बातें भी न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित करेगा, जिससे ठीक-ठीक न्याय प्राप्त किया जा सके।

भगवान् का मोक्ष जाना निश्चित है। अगर वे भाषण न करें तो भी उनका मोक्ष रुक नहीं सकता। लेकिन जिज्ञासु भव्य जीवों के हित के लिए उन्होंने छोटी छोटी बातों का भी निर्णय दिया है। यद्यपि भगवान् निर्णय दे रहे हैं मगर उनका निर्णय समझने वाला कोई ज्ञानी होना चाहिए, सो वह गौतम स्वामी हैं। जैसे बॉरिस्टर बॉरिस्टरी पास करता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी ने चार ज्ञान और चौदह पूर्व या सर्वाक्षरसन्निपात में पूर्ण योग्यता प्राप्त की है।

इस प्रकार भगवान् प्रधान न्यायाधीश और गौतम स्वामी बॉरिस्टर के स्थान पर है। फिर भी प्रश्न कितना सादा है! यह प्रश्न हमारे लिए है, क्योंकि हम छद्मस्थ उलझन में पड़ जाते हैं और मतवाद के वादाविवाद में गिर जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी ने बॉरिस्टर बनकर भगवान् महावीर से उन प्रश्नों का निर्णय कराया है। इस निर्णय (फैसले) की नकल सुधर्मा स्वामी ने ली है। सुधर्मा स्वामी ने भगवान् के निर्णय की जो नकल प्राप्त की थी, वही जम्बू स्वामी प्रभृति उपकारी महापुरुष सुनाते आये हैं। इसी से

हमें उसका किंचित् ज्ञान हुआ है। इन सब महर्षियों का हमारे ऊपर असीम उपकार है।

अन्तिम छह पदों में से पहले के तीन पद इस प्रकार हैं-संजायसड्ढे, संजायसंसए और संजायकोउहले। इन तीनों पदों का अर्थ वैसा ही है जैसा कि जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोउहले पदों का बतलाया जा चुका है। अन्तर केवल यही है कि इन पदों में 'जाय' के साथ 'सम्' उपसर्ग लगा हुआ है। 'जाय' का अर्थ है-प्रवृत्त, और 'सम्' उपसर्ग अत्यन्तता का बोधक है। जैसे 'मैंने कहा' इसके स्थान पर व्यवहार में कहते हैं-'मैंने बहुत कहा-खूब कहा' मैं बहुत चला, मैंने खूब खाया' आदि। इस प्रकार जैसे अत्यन्तता का भाव प्रकट करने के लिए बहुत या खूब शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रीय भाषा में अत्यन्तता बतलाने के लिए 'सम्' शब्द लगाया जाता है। अतएव इन तीनों पदों का यह अर्थ हुआ कि बहुत श्रद्धा हुई, बहुत संशय हुआ और बहुत कौतूहल हुआ।

'सम' उपसर्ग बहुतता का वाचक है, इसके लिए साहित्य का प्रमाण उद्धृत किया गया है—

'संजातकामो बलभिद्विभूत्यां,
मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च ॥'
'ऐन्द्रैश्वर्य प्रकर्षेण जातेच्छः कार्तवीर्यः'

यहां 'संजातकामः' पद में 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। यहां 'संजातकामः' का अर्थ है अत्यन्त इच्छा

वाला-प्रबल कामना वाला। जैसे इस जगह 'सम्' पद अत्यन्तता का बोधक है उसी प्रकार उक्त पदों में भी 'सम्' पद अत्यन्तता का बोधक है।

'संजायसड्ढे' की ही तरह 'संजायसंसए' और 'संजाय कोउहल्ले' पदों का अर्थ समझना चाहिए। और इसी प्रकार 'समुप्पण्णसड्ढे' 'समुप्पण्णसंसए तथा समुप्पण्णकोउहल्ले,' पदों का भाव भी समझ लेना चाहिए।

यह बारह पदों का अर्थ हुआ। इस अर्थ में आचार्यों का किंचित् मतभेद है। कोई आचार्य इन बारह पदों का अर्थ अन्य प्रकार से भी कहते हैं। वे 'श्रद्धा' पद का अर्थ 'पूछने की इच्छा' करते हैं और कहते हैं कि श्रद्धा अर्थात् पूछने की इच्छा, संशय से उत्पन्न होती है और संशय कौतूहल से उत्पन्न हुआ। 'यह सामने ऊँची सी दिखाई देने वाली वस्तु मनुष्य है या ठूंठ है? इस प्रकार का अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहलाता है। इस प्रकार व्याख्या करके आचार्य एक का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्थात् श्रद्धा के साथ संशय का सम्बन्ध जोड़ते हैं और संशय से कौतूहल का सम्बन्ध जोड़ते हैं। 'कौतूहल' का अर्थ उन्होंने यह किया है— 'हम यह बात कैसे जानेंगे' इस प्रकार की उत्सुकता को कौतूहल कहते हैं।

इस प्रकार व्याख्या करके वह आचार्य कहते हैं कि इन बारह पदों के चार-चार हिस्से करने चाहिए। इन चार हिस्सों में एक हिस्सा अवग्रह का है, एक ईहा का है, एक अवाय का है और एक धारणा का है। इस प्रकार इन चार

विभागों में बारहों पदों का समावेश हो जाता है।

दूसरे आचार्य का कथन है कि इन बारह पदों का समन्वय दूसरी ही तरह से करना चाहिए। उनके मन्तव्य के अनुसार बारह पदों के भेद करके उन्हें अलग-अलग करने की आवश्यकता नहीं है। जात, संजात, उत्पन्न, समुत्पन्न इन सब पदों का एक ही अर्थ है। प्रश्न होता है कि एक ही अर्थ वाले इतने पदों का प्रयोग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर वह आचार्य देते हैं कि भाव को बहुत स्पष्ट करने के लिए इन पदों का प्रयोग किया गया है।

एक ही बात को बार-बार कहने से पुनरुक्ति दोष आता है। अगर एक ही भाव के लिए अनेक पदों का प्रयोग किया गया है तो यहाँ भी यह दोष क्यों न होगा? इस प्रश्न का उत्तर उन आचार्य ने यह दिया है कि स्तुति करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। शास्त्रकार ने विभिन्न पदों द्वारा एक ही बात कहकर श्री गौतम स्वामी की प्रशंसा की है। अतएव बार-बार के इस कथन को पुनरुक्ति दोष नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमाण यह है।

'वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन्,
यत् पदमसकृद् ब्रूते तत्पुनरुक्तं न दोषाय'

अर्थात् हर्ष या भय आदि किसी प्रबल भाव से विक्षिप्त मन वाला वक्ता, किसी की प्रशंसा या निन्दा करता हुआ अगर एक ही पद को बार-बार बोलता है तो उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता।

इस कथन के अनुसार शास्त्रकार ने गौतम स्वामी की स्तुति के लिए एक ही अर्थ वाले अनेक पद कहे हैं, फिर भी इस कथन में पुनरुक्ति दोष नहीं है।

जिन आचार्य के मन्तव्य के अनुसार इन बारह पदों को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा में विभक्त किया गया है, उनके कथन के आधार पर यह प्रश्न हो सकता है कि अवग्रह आदि का क्या अर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है।

इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले मति ज्ञान के यह चार भेद हैं। अर्थात् हम जब किसी वस्तु को किसी इन्द्रिय द्वारा या मन द्वारा जानते हैं, तो वह ज्ञान किस क्रम से उत्पन्न होता है, यही क्रम बतलाने के लिए शास्त्रों में चार भेद कहे गये हैं। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य समझता है कि मन और इन्द्रिय से एकदम जल्दी ही ज्ञान हो जाता है। वह समझता है मैंने आंख खोली और पहाड़ देख लिया। अर्थात् उसकी समझ के अनुसार इन्द्रिय या मन की क्रिया होते ही ज्ञान हो जाता है, ज्ञान होने में तनिक भी देर नहीं लगती। मगर जिन्होंने आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन किया है, उन्हें मालूम है कि ऐसा नहीं होता। छोटी से छोटी वस्तु देखने में भी बहुत समय लगजाता है। मगर वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमारी स्थूल कल्पना शक्ति में नहीं आता।

एक बलवान् युवक सर्वथा जीर्ण वस्त्र को लेता है और दोनों ओर खींचकर चीर डालता है। वह समझता है कि इसके चीरने में मुझे तनिक भी देर नहीं लगी। मगर ज्ञानी पुरूष कहते हैं कि इस बलवान् युवक को कपड़ा फाड़ने में बहुत काल लगा है। कपड़ा सूत के पतले-पतले तारों का

बना होता है। जब तक उपर का तार न टूटे तब तक नीचे का तार नहीं टूटता। इस प्रकार पहले उपर का तार टूटा, फिर नीचे का तार। दोनों तार क्रम से टूटते हैं, इसलिए पहला तार टूटने का काल अलग है और दूसरा तार टूटने का काल अलग। इसी क्रम से और भी तार टूटते हैं। अब समस्त तारों के टूटने के काल का विचार करना चाहिए। घड़ी में सैकेंड तक के हिस्से किये जा सकें हैं। अगर सारा कपड़ा फाड़ने में एक सैकेंड लगा है तो कपड़े में जितने तार हैं, उतने ही हिस्से सैकेंड के हो गये।

तात्पर्य यह कि स्थूल दृष्टि से लोग समझते हैं कि इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने में देर नहीं लगती, परन्तु वास्तव में बहुत काल लग जाता है। इन्द्रिय या मन से ज्ञान होने में कितना काल लगता है, यह बात नीचे बताई जाती है।

जब हम किसी वस्तु को जानना देखना चाहते हैं तब सर्व प्रथम दर्शनोपयोग होता है। निराकार ज्ञान को, जिसमें वस्तु का अस्तित्व मात्र प्रतीत होता है, जैन दर्शन में दर्शनोपयोग कहते हैं। दर्शन हो जाने के अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह दो प्रकार का है-(१) व्यंजनावग्रह और (२) अर्थावग्रह। मान लीजिए, कोई वस्तु पड़ी है, परन्तु उसे दीपक के बिना नहीं देख सकते। जब दीपक का प्रकाश उस पर पड़ता है तब वह वस्तु को प्रकाशित कर देता है। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान में, जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ज्ञान होता है, उस वस्तु के परमाणु इन्द्रियों से लगते हैं। उस वस्तु का और इन्द्रिय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है। व्यंजन का यह अवग्रह व्यंजनावग्रह कहलाता है। यह व्यंजनावग्रह आंख और मन से नहीं होता, क्योंकि आंख

और मन का वस्तु के परमाणुओं के साथ संबंध नहीं होता। यह दोनों इन्द्रियां पदार्थ का स्पर्श किये विना ही पदार्थ को जान लेती हैं। अर्थात् अप्राप्यकारी हैं। शेष चार इंद्रियों से ही व्यंजनावग्रह होता है। आंख और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से पहले व्यंजनावग्रह ही होता है।

व्यंजनावग्रह के पश्चात् अर्थावग्रह होता है। व्जंना-वग्रह से, सामान्य रूप से जानी हुई वस्तु में, 'यह क्या है?' ऐसी जानने की इच्छा होना अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह में भी वस्तु का सामान्य ज्ञान ही होता है।

अवग्रह के इन दो भेदों में से अर्थावग्रह तो पाँचों इन्द्रियों से और मन से भी होता है। अतएव उसके छह भेद हैं। व्यंजनावग्रह आँख को छोड़ कर चार इन्द्रियों से ही होता है- वह मन एवं आँख से नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों और मनसे ज्ञान होने में पहले अवग्रह होता है। अवग्रह एक प्रकार का अव्यक्त ज्ञान है। जिसे यह ज्ञान होता है उसे स्वयं ही नहीं मालूम होता कि मुझे ज्ञान हुआ है। लेकिन विशिष्ट ज्ञानियों ने इसे भी देखा है। जिस प्रकार कपड़ा फाड़ते समय एक-एक तार का टूटना मालूम नहीं होता, लेकिन तार टूटते अवश्य हैं। तार न टूटें तो कपड़ा फट नहीं सकता। इसी प्रकार अवग्रह ज्ञान स्वयं मालूम नहीं पड़ता मगर वह होता अवश्य है। अवग्रह न होता तो आगे के ईहा, अवाय, धारणा आदि ज्ञानों का होना संभव नहीं था। क्योंकि विना अवग्रह के ईहा, विना ईहा के अवाय और विना अवाय के धारणा नहीं होती। ज्ञानों का यह क्रम निश्चित है।

अवग्रह के बाद ईहा होती है। 'यह क्या है' इस प्रकार का अर्थावग्रह ज्ञान जिस वस्तु के विषय में हुआ था, उसी वस्तु के सम्बन्ध में भेद के विचार को ईहा कहते हैं। 'यह वस्तु अमुक गुण की है, इसलिए अमुक होनी चाहिए' इस प्रकार का कुछ-कुछ कच्चा-पक्का ज्ञान ईहा कहलाता है।

ईहा के पश्चात् अवाय ज्ञान होता है। जिस वस्तु के सम्बन्ध में ईहा ज्ञान हुआ, उसके सम्बन्ध में किसी निर्णय-निश्चय पर पहुँच जाना अवाय है। 'यह अमुक वस्तु ही है' इस ज्ञान को अवाय कहते हैं। उदाहरणार्थ-'यह खड़ा हुआ पदार्थ ठूंठ होना चाहिए' इस प्रकार का ज्ञान ईहा कहलाता है और 'यह पदार्थ अगर मनुष्य होता तो बिना हिले डुले एक ही स्थान पर खड़ा न रहता, इस पर पक्षी निर्भय हो कर न बैठते, इसलिए यह मनुष्य नहीं है, ठूंठ ही है'। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है। अर्थात् जो है उसे स्थिर करने वाला और जो नहीं है, उसे उठाने वाला निर्णय रूप ज्ञान अवाय है।

चौथा ज्ञान धारणा है। जिस पदार्थ के विषय में अवाय हुआ है, उसी के सम्बन्ध में धारणा होती है। धारणा, स्मृति और संस्कार, यह एक ही ज्ञान की शाखाएँ हैं। जिस वस्तु में अवाय हुआ है उसे कालान्तर में स्मरण करने के योग्य सुदृढ़ बना लेना धारणा ज्ञान है। कालान्तर में उस पदार्थ को याद करना स्मरण है और स्मरण का कारण संस्कार कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञानगुण मूलतः एक ही है। यह जब किसी वस्तु का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है

तो पहले-पहले अत्यन्त सामान्य रूप में होता है। फिर धीरे-धीरे विकसित एवं पुष्ट होता हुआ निर्णय रुप बन जाता है। उत्पत्ति से लेकर निश्चयात्मक रूप धारण करने में ज्ञान को बहुत काल लग जाता है। मगर वह काल इतना सूक्ष्म है कि हमारी स्थूल कल्पना में आना कठिन होता है। निश्चयात्मक रूप धारण करने में ज्ञान को अनेक अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है। यह अवस्थाएँ इतनी अधिक होती है कि हम उनकी ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं कर सकते। तथापि सहज रीति से सब की समझ में आजाएँ, इस प्रयोजन से शास्त्रकारों ने उन सभी अवस्थाओं का मुख्य चार विभागों में वर्गीकरण कर दिया है। ज्ञान की इन मुख्य चार अवस्थाओं को ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा कहते है। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि हमारा ज्ञान सीधा अवग्रह से आरंभ होता है। अवग्रह से भी पहले दर्शन होता है। दर्शन में महासामान्य अर्थात् सत्ता का प्रतिभास होता है। सत्ता का प्रतिभास हो चुकने पर अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह में भी पहले व्यंजनावग्रह, फिर अर्थावग्रह होता है। अवग्रह के पश्चात् संशय का उदय होता है। तब संशय को हटाता हुआ ईहा, ईहा के अनन्तर अवाय और अवाय के पश्चात् धारणा ज्ञान होता है। इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रमपूर्वक ही होते हैं। पहला ज्ञान हुए बिना दूसरा आगे वाला ज्ञान नहीं हो सकता।

पहले आचार्य का कथन है कि गौतम स्वामी को प्रथम श्रद्धा, संशय और कौतूहल में प्रवृत्ति हुई। यह तीनों अवग्रह ज्ञान रूप हैं। प्रश्न होता है कि यह कैसे मालूम हुआ कि गौतम स्वामी को पहलेपहल अवग्रह हुआ? इस का उत्तर

यह है कि-पृथ्वी में दाना बोया जाता है। दाना, पानी का संयोग पाकर पृथ्वी में गीला होता है—फूलता है और तब उसमें से अंकुर निकलता है। अंकुर जब तक पृथ्वी से बाहर नहीं निकलता, तब तक दीख नहीं पड़ता। मगर जब अंकुर पृथ्वी के बाहर निकलता है तब उसे देखकर हम यह जान लेते हैं कि यह अंकुर पहले छोटा था, जो दीख नहीं पड़ता था, मगर था वह अवश्य। अगर वह छोटे रूप में न होता तो अब बड़ा होकर कैसे दीख पड़ता ? इस प्रकार बड़े को देखकर छोटे का अनुमान करना ही चाहिए। कार्य को देखकर कारण को मानना ही न्यायसंगत है। बिना कारण के कार्य का होना असंभव है। अगर बिना कारण के कार्य का होना मान लिया जाय तो संसार का नियम ही बिगड़ जायगा।

एक और उदाहरण लीजिए। मुर्गी के अंडे में पानी ही पानी होता है, शरीर नहीं होता। अगर उस अंडे के पानी में मुर्गी का शरीर न माना जाय तो क्या बिना उस पानी के मुर्गी का शरीर बन सकता है ? नहीं। यद्यपि उस पानी में आज मुर्गी नहीं दीख पड़ती है, लेकिन जिस दिन मुर्गी दिखेगी उस दिन उसकी पानी रूप पर्याय का अनुमान अवश्य किया जायगा, क्योंकि उस पर्याय के बिना मुर्गी का शरीर बन ही नहीं सकता।

इसी प्रकार कार्य-कारण के संबंध से यह भी जाना जा सकता है कि जो ज्ञान ईहा के रूप में आया है वह अवग्रह के रूप में अवश्य था, क्योंकि बिना अवग्रह के ईहा का होना संभव नहीं है। गौतम स्वामी छद्मस्थ थे। उन्हें जो मति ज्ञान होता है वह इन्द्रिय और मन से होता है। और इन्द्रिय तथा मन से होने वाले ज्ञान में बिना अवग्रह के ईहा नहीं होती।

सारांश यह है कि पहले के 'जायसड्ढे, जायसंसए और जायकोऊहले, यह तीन पद अवग्रह हैं'। उप्पण्णसड्ढे, उप्पण्णसंसए और उप्पण्णकोऊहले यह तीन पद ईहा हैं। संजायसड्ढे, संजायसंसए और संजायकोऊहले, यह तीन पद अवाय है। और समुप्पण्णसड्ढे, समुप्पण्णसंसए तथा समुप्पण्णकोऊहले, यह तीन पद धारणा हैं।

इसके आगे गौतम स्वामी के संबंध में कहा है कि— उट्ठाए उट्ठेइ। अर्थात् गौतम स्वामी उठने के लिए तैयार होकर उठते हैं।

प्रश्न—यहाँ 'उट्ठाए उट्ठेइ' यह दो पद क्यों दिये गये हैं?

उत्तर—दोनों पद सार्थक हैं। पहले पद से यह सूचित किया है कि गौतम स्मामी उठने के अभिमुख हुए अर्थात् उठने को तैयार हुए। दूसरे पद से यह सूचित किया है कि वे उठ खड़े हुए। अगर दो पद न दिए होते और पहला ही पद होता तो उठने के प्रारम्भ का ज्ञान तो होता परन्तु उठ कर खड़े हुए, यह ज्ञान न होता। जैसे 'बोलने के लिए तैयार हुए' इस कथन में यह संदेह रह जाता है कि बोले या नहीं? इसी प्रकार एक पद रखने से यहां भी सन्देह रह जाता।

भगवान् गौतम उठे और खड़े होकर भगवान् महावीर के पास आये। इस कथन से यह प्रकट है कि गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से कुछ दूर थे।

शास्त्र में गुरू और शिष्य के बीच में साढे तीन हाथ की दूरी रहने का विधान है। इस विधान में अनेक उद्देश्य

हैं। गुरु को शरीर फैलाने में दिक्कत नहीं होती और गर्मी आदि भी नहीं लगती। इस कारण शिष्य को गुरु से ३॥ हाथ दूर रहना कहा है। गुरु के चरण-स्पर्श आदि किसी कार्य के लिए अवग्रह में जाना हो तो गुरु से आज्ञा लेनी चाहिए। अगर गुरु आज्ञा दें तो जाना चाहिए, अन्यथा नहीं जाना चाहिए, यह नियम है। आज इस नियम के शब्द तो सुधर्मा-स्वामी की कृपा से मिलते हैं, लेकिन इसमें प्रवृत्ति कम देखी जाती है।

गौतम स्वामी अपने आसन से उठ खड़े हुए और चलकर भगवान् के समीप आये। भगवान् के समीप आकर उन्होंने भगवान् को तीन वार प्रदक्षिणा की।

कई लोग प्रदक्षिणा का अर्थ हाथ जोड़ कर अपने कान के आसपास हाथ घुमाना ही समझते हैं, लेकिन यह प्रदक्षिणा का विकृत किंवा संक्षिप्त रूप है। आसपास-चारों ओर चक्कर लगाने का नाम ही प्रदक्षिणा है। प्राचीन काल में इसी प्रकार प्रदक्षिणा की जाती थी।

प्रदक्षिणा करके गौतम स्वामी ने भगवान् के गुणों का कीर्त्तन किया और पाँच अंग नमा कर भगवान् को वंदना की। वंदना करने के पश्चात् गौतम स्वामी, भगवान् के सन्मुख बैठे। वचन से स्तुति करना वंदना है और काया से प्रणाम करना नमस्कार कहलाता है।

गौतम स्वामी भगवान् के सन्मुख—भगवान् की ओर मुंह करके, जिस प्रकार बैठे, यह वर्णन भी शास्त्र में है। संक्षेप में वह भी बतलाया जाता है।

गौतम स्वामी भगवान् के आसन की अपेक्षा नीचे आसन पर, न बहुत दूर, न बहुत नज़दीक अर्थात् भगवान् से साढ़े तीन हाथ दूर बैठे। बहुत दूर बैठने से शिष्य, गुरु की बात भली भाँति नहीं सुन सकता, अथवा गुरु को जोर से बोलने का कष्ट उठाना पड़ता है। बहुत समीप बैठने से गुरु को किसी प्रकार की दिक्कत होती है। अतएव गौतम स्वामी, भगवान् से साढ़े तीन हाथ की दूरी पर, भगवान् के वचनों को श्रवण करने की इच्छा करते हुए विराजमान हुए। गौतम स्वामी, भगवान् के सामने वैसी ही इच्छा लिये बैठे हैं, जैसे बछड़े को गाय का दूध पीने की इच्छा होती है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी अंजलि करके अर्थात् दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें मस्तक से लगाकर, प्रार्थना करते हुए भगवान् के प्रति विनयपूर्वक बोले।

यह गौतम स्वामी के विनय का वर्णन सुधर्मा स्वामी ने सुनाया है। इससे प्रतीत होता है कि श्रोता को अपने गुरु के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। श्रोता कैसा होना चाहिए, इस विषय में कहा गया है।

णिद्दा—विगहापरिवज्जिएहिं, गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।
भत्ति—बहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं॥

अर्थात्—गुरु जब शास्त्र की प्ररूपणा करते हों तब श्रोताओं को नींद और आपस की बातचीत बंद करके, मन तथा शरीर को संयम में रखकर, हाथ जोड़कर, भक्ति एवं अत्यन्त आदर पूर्वक श्रवण करना चाहिए। शास्त्र की प्ररूपणा करते समय नींद लेना या बातें करना प्ररूपणा में विघ्न डालना है।

नन्दी सूत्र में श्रोता और वक्ता के गुण दोष बतलाने के लिए और भी अधिक विवेचन किया गया है। उसमें कहा है कि, एक श्रोता गाय के बछड़े के समान होता है। गाय का बछड़ा छूटने पर और किसी बात पर ध्यान नहीं देकर सीधा अपनी माँ के पास दौड़ता है। गाय के बछड़े के समान श्रोता किसी और बात पर ध्यान न देकर वक्ता के द्वारा किये जाने वाले विवेचन पर ही ध्यान देता है।

कोई-कोई श्रोता जौंक के समान होता है। जौंक को अगर दूध-भरे स्तन पर लगाया जाय तो यह दूध न पीकर रक्त ही पीती है। किसी कवि ने कहा है।

दोहा—अवगुण को उमगी गहें, गुण न गहें खल लोक।
रक्त पिये पय ना पिये, लगी पयोधर जौंक॥

इसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के छिद्र तो देखते हैं, परन्तु वक्ता के मुख से निकलने वाली अमृत वाणी को ग्रहण नहीं करते, वे जौंक के समान हैं।

भगवान् ने चौदह प्रकार के वक्ता कहे हैं, मगर साथ ही यह भी कहा है कि श्रोता को वक्ता के दोष न देखकर गुण ही ग्रहण करना चाहिए। जहाँ अमृत मिल सकता है वहाँ रक्त ग्रहण करना उचित नहीं है।

विधिपूर्वक वन्दना-नमस्कार करके गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से स्वीकृति प्राप्त करके प्रश्न किये जिनका वर्णन आगे किया जायगा। ॥ इति ॥

॥ इति प्रथमो भागः ॥